भारतीय ग्रन्थमाला संख्या १६

कौटल्य के आर्थिक विचार

लेखक

भगनलाल गुप्त

और

भगवानदास केला

प्रकाशक

व्यवस्थापक, भारतीय ग्रन्थमाला,

दारागंज प्रयाग

तीसरा संस्करण] सन् १६४७ ई० [मूल्य दो रुपया

प्रकाशक—

श्री भगवानदास केला

व्यवस्थापक, भारतीय ग्रन्थमाला

दारागंज (प्रयाग)

मुद्रक—

आर० एम० [illegible]

कायस्थ पाठशाला प्रेस

एण्ड प्रिंटिंग वर्क्स

इलाहाबाद

स्वर्गीय पंडित बलराम जी दुबे

की

पवित्र स्मृति में

निवेदन

कुछ समय से हिन्दी के अर्थशास्त्र-साहित्य की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा है। कुछ अच्छी-अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। यह हर्ष का विषय है। आवश्यकता है कि हम अपने प्राचीन अर्थ-साहित्य से भी यथेष्ट परिचय प्राप्त करते रहें। हमारे प्राचीन (संस्कृत के) अर्थशास्त्रों में कौटलीय अर्थशास्त्र का स्थान बहुत गौरव पूर्ण है, परन्तु इसकी शैली ऐसी गूढ़ और पाण्डित्यपूर्ण है कि इसके अनुवाद को भी पूरा पढ़ने में मन नहीं लगता। साधारण योग्यतावाले अधिकांश पाठक इससे जैसा चाहिए लाभ नहीं उठा सकते। इस अभाव की थोड़ी-बहुत पूर्ति करने के लिए यह छोटीसी पुस्तक हिन्दी संसार की सेवा में उपस्थित की जाती है। मूल ग्रन्थ में समाजशास्त्र की कई शाखाओं, एवं कुछ अन्य विषयों के भी ज्ञान का अथाह समुद्र भरा हुआ है, हमने इस पुस्तक में आचार्य कौटल्य के केवल आर्थिक विचार लिये हैं, और उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय और वितरण सम्बन्धी विचारों पर ही प्रकाश डाला है। पहले हमारी इच्छा थी कि इस पुस्तक में आचार्य कौटल्य के राजस्व सम्बन्धी विचार भी दिये जायँ। परन्तु हमारी 'कौटल्य की शासनपद्धति' पुस्तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित हो गयी है, और उसमें इस विषय का भी विवेचन किया गया है; इसलिए इस पुस्तक में उसे देने की आवश्यकता न रही। हमने इस पुस्तक का क्रम अर्थात् विषयों का वर्गीकरण आधुनिक पद्धति पर किया है, जिससे वर्तमान शिक्षा-संस्थाओं के विद्यार्थी और शिक्षकों को इसे पढ़ने, तथा प्राचीन विचारों की आधुनिक विचारों से तुलना करने में सुविधा हो।

यद्यपि जिन विचारों पर इस पुस्तक में प्रकाश डाला गया है, वे प्राचीनकाल के हैं, और अब परिस्थिति बहुत बदली हुई है तथापि भारतवासी इस पुस्तक से बहुत लाभ उठा सकते हैं। कुछ बातों की तो अन्य देशवासियों के लिए भी बहुत उपयोगिता है। आजकल आर्थिक उन्नति की बड़ी चर्चा है, विभिन्न राज्यों में धन-वृद्धि के नित्य नये प्रयत्न किये जा रहे हैं, फिर भी जन-समुदाय को सुख शान्ति दुर्लभ हो रही है। प्राचीनकाल में आचार्य कौटल्य जैसे अर्थशास्त्रियों के प्रयास से, समाज में सर्वत्र पारस्परिक सहानुभूति और सेवा भाव आजकल की अपेक्षा बहुत अधिक था। इस दृष्टि से आधुनिक समाज-सुधारकों को उस समय की दशा का गहरा अध्ययन करना चाहिए।

इस रचना के लिए मूल प्रेरणा हमें मित्रवर श्री० प्रोफेसर रमाशंकरजी दुबे की ओर से हुई थी, और श्री० जगनलाल जी गुप्त ने विचार-विनिमय आदि द्वारा हमें बहुमूल्य सहायता प्रदान की थी। इसका दूसरा संस्करण तैयार करने में हम श्री० गुप्त जी का सहयोग नहीं ले सके थे। पीछे तो उनका देहान्त ही हो गया। आवश्यक संशोधन करके इस पुस्तक का तीसरा संस्करण प्रकाशित करने का साहस किया जा रहा है। क्या हम आशा करें कि इस विषय के प्रेमी पाठक अपने क्षेत्र में इसका समुचित प्रचार करेंगे!

विनीत

भगवान दास केला

आवश्यक सूचनाएँ

(१) हमने इस पुस्तक का नाम 'कौटल्य के आर्थिक विचार' रखा है, और इसमें जहाँ-तहाँ 'कौटल्य' शब्द का ही प्रयोग किया है। यद्यपि व्यवहार में प्रायः 'कौटिल्य' अधिक प्रचलित है, पर वास्तव में 'कौटल्य' अधिक शुद्ध है। इस सम्बन्ध में विशेष विचार प्रस्तावना में किया गया है।

(२) 'आर्थिक विचार' में 'आर्थिक' शब्द आधुनिक साम्पत्तिक (Economic) अर्थ में लिया गया है। कौटल्य के विचार से 'आर्थिक' शब्द का अभिप्राय बहुत व्यापक है। इसका परिचय पाठकों को आगे मिलेगा।

(३) इस पुस्तक में साधारणतया 'आचार्य' से अभिप्राय आचार्य कौटल्य का और 'अर्थशास्त्र' से अभिप्राय कौटलीय अर्थशास्त्र का है।

(४) इस पुस्तक में अर्थशास्त्र का हवाला देते हुए जहाँ अंकों का प्रयोग हुआ है, वहाँ पहला अंक अधिकरण का सूचक है दूसरा, अध्याय का, और तीसरा सूत्र का।

सहायक पुस्तकें

कौटलीय अर्थशास्त्र—हिन्दी अनुवादक, उदयवीर शास्त्री
" " " प्राणनाथ विद्यालङ्कार
" अंगरेजी " शामशास्त्री
मेगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन—अनुवादक, रामचन्द्र शुक्ल
भारतीय अर्थशास्त्र—भगवानदास केला
मौर्य साम्राज्य का इतिहास—सत्यकेतु विद्यालंकार
बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र—अनुवादक, [illegible] एम० ए०
Hindu Polity—K. P. Jayaswal, M. A.
Kautilya—N. G. Bandyopadhyaya.
The Early History of India—V. A. Smith.

भूमिका

संस्कृत साहित्य में अर्थशास्त्र के विषय पर इस समय विशेषतया दो ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें कौटल्य का अर्थशास्त्र मुख्य है। इस ग्रन्थ का हिन्दी और अंगरेजी में भी अनुवाद हो गया है।

प्राचीन समय में अर्थशास्त्र के अन्तर्गत उन विषयों का भी समावेश किया जाता था, जो आजकल राजनीति के अन्तर्गत माने जाते हैं। इसलिए कौटल्य के अर्थशास्त्र में भी राजनीति का पूरा समावेश है। इस ग्रन्थ में अर्थशास्त्र के विषयों का विवेचन उस क्रम से नहीं किया गया है, जिस क्रम से कि वर्तमान काल में अर्थशास्त्र के ग्रन्थों में किया जाता है, जिस क्रम से कि वर्तमानकाल में अर्थशास्त्र के ग्रन्थों में किया जाता है। इस लिए जब तक कौटल्य के अर्थशास्त्र का विशेष रूप से अध्ययन न किया जाय, तब तक उसके आर्थिक विचारों का सुगमता पूर्वक पता नहीं लगता। इस ग्रन्थ की लेखन प्रणाली भी ऐसी है कि उस से उत्तम हिन्दी अनुवाद के पढ़ने से भी विषय आसानी से समझ में नहीं आता। मैंने स्वयं श्री॰ उदयवीर शास्त्री के हिन्दी अनुवाद को कई बार पढ़ने का यत्न किया परन्तु मैं उसे एक बार भी अन्त तक न पढ़ सका, न मुझे कौटल्य के आर्थिक विचारों का पूरा ज्ञान ही हो सका। तब मैंने यह सोचा कि यदि कौटल्य के आर्थिक विचार किसी एक पुस्तक में उस क्रम से सरल भाषा में दे दिये जायँ, जिस क्रम से कि वे आजकल अर्थशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों में दिये रहते हैं तो हिन्दी-प्रेमी जनता को उसके समझने में भी आसानी होगी, और कौटल्य के आर्थिक विचारों का जनता में प्रचार भी हो सकेगा।

जब मैंने इस विचार को, अपने मित्र श्रीयुत भगवानदास जी केला के सामने उपस्थित किया तो उन्होंने इस प्रकार की पुस्तक तैयार करना सहर्ष स्वीकार कर लिया। श्रीयुत केला जी को इस कार्य में एक मित्र व विशेषकर श्रीयुत जगन्नाथ जी गुप्त का सहयोग प्राप्त हो गया, इससे यह कार्य और भी अच्छी तरह सम्पादित हो गया।

मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि इसके दो संस्करण समाप्त हो गये हैं। तीसरा संस्करण भी उसी रूप में आवश्यक संशोधनों सहित प्रकाशित हो रहा है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा परीक्षा के अर्थशास्त्र विषय के पाठ्यग्रन्थों की सूची में इसे स्थान मिल गया है। यदि अन्य शिक्षा संस्थाएँ इस पुस्तक को अपने पाठ्यक्रम में स्थान देने की कृपा करेंगी तो विद्यार्थियों को भारत के एक सुशिक्षित प्राचीन अर्थशास्त्री के विचारों से परिचित होने का अवसर मिल जायगा। आशा है, हिन्दी-प्रेमी सज्जन इस रचना का उचित आदर करेंगे।

श्री दुबे निवास
दारागंज, प्रयाग

दयाशंकर दुबे
एम० ए०, एल-एल० बी०
अर्थशास्त्र अध्यापक, प्रयाग विश्वविद्यालय

विषय-सूची

पहला अध्याय

प्रस्तावना

(१) आचार्य कौटल्य

इस पुस्तक में सुप्रसिद्ध प्राचीन अर्थशास्त्र प्रणेता आचार्य कौटल्य के आर्थिक विचारों का विवेचन है। स्वभावत इसके पाठकों को आचार्य का परिचय प्राप्त करने की इच्छा होगी, और यह परिचय उपयोगी भी होगा। इस विचार से यहाँ संक्षेप में आचार्य के सम्बन्ध में कुछ बातों का उल्लेख किया जाता है।

आचार्य न अपनी योग्यता तेजस्विता, रचना कौशल और बुद्धि प्रखरता आदि से जर्मन, फ्रांसीसी आदि पाश्चात्य विद्वानों को चकित कर दिया है और उनकी दृष्टि में भारत का प्राचीन गौरव बढ़ाया है। उनके अर्थशास्त्र के उपलब्ध हो जाने से इस बात का जीवित जाग्रत प्रमाण मिल गया है कि अब से सवा दो हजार वर्ष पूर्व जबकि अनेक आधुनिक राष्ट्रों का जन्म भी नहीं हुआ था भारतवर्ष अपनी सभ्यता और संस्कृति की, तथा राजनैतिक और आर्थिक उन्नति की पराकाष्ठा कर रहा था।

अवश्य ही यह खेद का विषय है कि भारत का मस्तक ऊँचा करने वाले ऐसे महान आचार्य का कोई प्रामाणिक जीवनचरित्र नहीं मिलता। उनके जीवन सम्बन्धी कई घटनाएँ बहुत संदिग्ध और विवादग्रस्त हैं।

विष्णुगुप्त और कौटल्य—अर्थशास्त्र में जहाँ जहाँ आचार्य को अपना मत स्पष्ट रूप से देना हुआ है उसने 'कौटल्य का यह मत है' (इति कौटल्य) कहा है। इससे कुछ पाठक यह अनुमान करते हैं कि यह ग्रन्थ स्वयं आचार्य का बनाया हुआ नहीं है, वरन् उसके शिष्यों में से किसी ने बनाया है। यह अनुमान ठीक नहीं है, कारण कि अनेक प्राचीन लेखकों की यही शैली रही है कि अपना मत अपने नाम से ही दर्शाया जाय। हिन्दी के अनेक दोहों और कुण्डलियों में उनके रचयिता का नाम आता है। फिर उस समय तो उसमें सन्देह करने का कोई स्थान ही नहीं रहता जब हम यह देखते हैं कि 'अर्थशास्त्र' के प्रथम अधिकरण के प्रथम अध्याय के अन्तिम श्लोक में, तथा द्वितीय अधिकरण के दसवें अध्याय के अन्त में भी इसके ग्रन्थकर्ता का उल्लेख 'कौटल्य' के नाम से ही हुआ है। हाँ, ग्रन्थ की समाप्ति पर विष्णुगुप्त नाम भी दिया गया है। नीतिसार के रचयिता तथा कामन्दक नीतिसार के लेखक ने आचार्य के लिए 'विष्णुगुप्त' नाम का ही प्रयोग किया है। कौटल्य नाम के विषय में कहा जाता है कि यह आचार्य का गोत्रज नाम है। यह 'कुटल' गोत्रीय था। सम्भव है, इसीलिए आचार्य ने अपने लिए इस गोत्रज नाम का अधिक व्यवहार किया है। यह बता सकना कठिन है कि इस गोत्रवाले इस समय भारतवर्ष के किस भाग में पाये जाते हैं।

अस्तु, धीरे धीरे आचार्य के 'विष्णुगुप्त' नाम का प्रचार घट गया और 'कौटल्य' ही व्यवहार में आने लगा। अर्थशास्त्रज्ञों को छोड़कर अन्य इतिहासज्ञ, पुराणकार, टीकाकार, नाटककार आदि ग्रन्थ लेखक भी, जो आचार्य से बहुत काल पीछे नहीं हुए, इस नाम का प्रयोग करने लगे। 'मुद्राराक्षस' के रचयिता कविवर विशाखदत्त जी जैसे इने गिने विद्वानों के सिवाय और सब लेखक आचार्य के विष्णुगुप्त

आदि के विवेचन को देखकर चकित हैं उन्हें यह विश्वास नहीं होता कि भारतवर्ष में ये विद्याएँ ऐसे प्राचीन काल में इतनी उन्नत हो गयी थीं जबकि संसार के अन्य देश अधिकांश में अन्धकारमय जीवन व्यतीत कर रहे थे। परन्तु अन्य विद्वानों ने इस मत का यथेष्ट खंडन किया है और यह सिद्ध किया है कि वास्तव में इस ग्रन्थ की रचना ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में हुई थी, चन्द्रगुप्त का शासन-काल ई० पू० सन् ३२२ से ई० पू० २९८ तक स्वीकार किया जाता है।

कौटिल्य और मेगास्थनीज़—कौटिल्य और मेगस्थनीज़ प्रायः समकालीन माने जाते हैं, और यह मत इतना प्रचलित हो गया है कि अब चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में विचार करनेवाला हर एक लेखक उक्त दोनों के ही ग्रन्थों के आधार पर अपना वक्तव्य उपस्थित करने लग गया है। तथापि यह विषय ऐसा नहीं है कि इसमें किसी प्रकार का सन्देह ही न हो। हमें यहाँ इसका विवेचन न कर केवल इसका दिग्दर्शन कराना ही अभीष्ट है। जैसा कि श्री चन्द्रगुप्त जी विद्यालंकार ने लिखा है, यूनानी साहित्य में भारतवर्ष के सम्बन्ध में पालीबोथ्रा और सेंड्राकोटस आदि कुछ नाम तथा इनके वर्णन उपलब्ध हैं। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय पुरातत्व के विद्वान् बड़े प्रयत्न से इन नामों की संगति भारतीय इतिहास में लगाने की चेष्टा करते रहे। अन्त में सन् १७९३ ई० में रायल एशियाटिक सोसाइटी के प्रधान सर विलियम जोन्स ने यह प्रतिपादन किया कि 'पालीबोथ्रा' भारतवर्ष का पाटलीपुत्र' नगर है, और 'सेंड्राकोटस' चन्द्रगुप्त का अपभ्रंश है, जिसने नन्द वंश का नाश करके मौर्य वंश की स्थापना की। यह मत भारतीय तिथि-क्रम की आधारशिला के रूप में स्वीकार की गयी। इससे यह सिद्ध हो गया कि महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य सन् ३२२ ई० पू० में मगध

*माधुरी वर्ष ८, खंड १ संख्या १०

जिसने कौटल्य के नाम से इस ग्रन्थ की रचना की और जिसका समय उक्त दोनों व्यक्तियों के समय से भिन्न था।

जिस आधार पर ये निष्कर्ष निकाले जाते हैं, वह हमें कुछ दृढ़ नहीं मालूम होते। प्रथम तो मेगस्थनीज़ का पूरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है दूसरे जिन बातों के वर्णन में कुछ पाठकों को भेद मालूम होता है, उनमें अन्य विद्वान पूर्वापर ग्रन्थों की साक्षियों के विवेचन से संगति मिलाने में समर्थ हो जाते हैं, उन्हें कोई विशेष तात्विक या मौलिक भेद ज्ञात नहीं होता।* अस्तु, विविध उपलब्ध प्रमाणों से हमें इसमें सन्देह करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि 'अर्थशास्त्र' का रचयिता कौटल्य (विष्णुगुप्त) उपनाम चाणक्य ही था। हाँ, मेगस्थनीज़ उसका समकालीन था या नहीं, और मेगस्थनीज़ का 'सैंड्राकोटस' वास्तव में चन्द्रगुप्त मौर्य था या समुद्रगुप्त आदि कोई अन्य राजा, इस विषय में पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा अनुसंधान किये जाने की गुंजायश हो सकती है।

कौटल्य का जन्म और शिक्षा—बौद्ध ग्रन्थों तथा कुछ अन्य प्रमाणों के आधार पर अनुमान किया जाता है कि आचार्य की जन्मभूमि तक्षशिला थी, और उसने संसार-प्रसिद्ध नालन्द के विश्वविद्यालय में शिक्षा पायी थी। कविवर विशाखदत्त जी के लिखने से मालूम होता है कि नगर (पाटलीपुत्र) में आने से पूर्व कौटल्य नीति, वैद्यक, ज्योतिष, रसायन आदि लोकोपयोगी विविध विद्याएँ पढ़ चुका था। वह दृढ़ता साहस और धैर्य आदि सद्गुणों की भी समुचित शिक्षा पा चुका था।

मगध में आगमन—उन दिनों मगध के महाराज महानन्द था

---

*श्री गोपाल दामोदर तामसकर जी का मत है कि यह सम्भव है कि कौटल्य ने अपना ग्रन्थ चन्द्रगुप्त के शासन के नितान्त प्रारम्भ काल में लिखा हो, और मेगस्थनीज़ ने उसके पीछे की, विकसित अवस्था वर्णन किया हो।

चतुर और योग्य था। उसका कौटल्य से मेल होजाना स्वाभाविक था। ये दोनों तक्षशिला की ओर गये। उन दिनों सिकन्दर अपनी सेना सहित वहीं था। उससे इनकी भेंट हुई। पर उसकी सेना के भयभीत हो जाने के कारण वह इन्हें महानन्द के विरुद्ध कुछ सहायता न दे सका। अन्त में पश्चिमोत्तर प्रान्तों के कई पहाड़ी राजाओं से मेल करके ये कुसुमपुर पर चढ़े। नन्द मारे गये और कुसुमपुर पर कौटल्य और चन्द्रगुप्त का राज्य हो गया।

शान्ति स्थापना—राज्याधिकार प्राप्त कर लेने के पीछे भी कौटल्य को विजित राज्य में शान्ति स्थापना करने में बड़ी कठिनाई पड़ी होगी, और यह महानन्द के मंत्री राक्षस को चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाने में कई वर्ष प्रयत्न करने के पश्चात् सफल हुआ होगा। अर्थशास्त्र के प्रकरण १०१ में ऐसे उपायों का सविस्तार वर्णन किया गया है, और मुद्राराक्षस का अन्तिम भाग पढ़ने से मालूम होता है कि कौटल्य को प्रायः ये सब ही उपाय बरतने पड़े थे।

सिल्यूकस की पराजय—राक्षस को चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाने के पश्चात् कौटल्य ने यूनानियों को भारतवर्ष से निकालने की ओर ध्यान दिया। सिल्यूकस ने महानन्द और चन्द्रगुप्त के युद्ध का समाचार सुनने पर अपना अधिकार पंजाब तक बढ़ा लिया था। अब चन्द्रगुप्त की विजय से वह न केवल पंजाब से ही हटाया गया, वरन अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान, और उससे भी आगे का कुछ भाग उससे छीनकर मौर्य साम्राज्य में मिला लिया गया। सिल्यूकस ने अपनी कन्या

महानन्द और उसके पुत्रों के मारे जाने के विषय में कई प्रकार अद्‌भुत और आश्चर्यजनक गाथाएँ प्रचलित हैं। परन्तु वास्तविक बात यह होगी कि ये लोग युद्ध में उन उपायों द्वारा मारे गए, जिनका उल्लेख कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र के प्रकरण १६४ से १७६ तक किया है।

किया है, वे प्रायः सही हैं। कई तत्कालीन यूनानी लेखकों की भाँति उसने कल्पना के आधार पर ही नहीं लिख मारा है। उसने हीरा, मोती मूँगा चन्दन, चमड़ा, रेशमी वस्त्र नमक आदि पदार्थ उत्पन्न होने या बनाये जाने के कई स्थानों के नाम गिनाये हैं।

कौटल्य ने अपने ग्रन्थ में भिन्न भिन्न कम-से-कम तीस ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख किया है, इनमें से कुछ सर्वज्ञ्ात हैं पर कितनी ही ऐसी हैं, जिनका ज्ञान पुराणों और इतिहासों को देखे बिना नहीं हो सकता। उसके अर्थशास्त्र के अनुवादकों को चाहिए कि ऐसे प्रसगों के केवल उल्लेख से ही संतोष न कर, पाठकों की जानकारी के लिए उन पर विशेष प्रकाश डाला करें।

कौटल्य का जीवनोद्देश्य—कौटल्य के धार्मिक विचार इस पुस्तक में, तथा राजनैतिक विचार भी० केला जी की दूसरी पुस्तक* में दिये गये हैं, इनसे उसकी इन विषयों सम्बन्धी नीति भलीभाँति विदित हो जायगी। यहाँ जीवनोद्देश्य के सम्बन्ध में विचार करना है। भारतवर्ष में बहुतसे आदमी धर्म और मोक्ष को प्रधानता देने वाले रहे हैं, उन्होंने लौकिक बातों की नितान्त अवहेलना की है। इसके विपरीत, कुछ व्यक्ति समय-समय पर ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने अर्थ और काम को मुख्य स्थान दिया है, खाओ पीओ और मौज करो, भोग-विलासों का भरसक उप भोग करो यही उनका दृष्टिकोण रहा है। आचार्य कौटल्य इन दोनों चरम सीमाओं से बचता है वह एक प्रकार से समझौतावादी है। वह सर्वसाधारणकी स्वाभाविक प्रवृत्ति और रुचि को भलीभाँति समझता है, इसलिए वह उन्हें अर्थ और काम की प्राप्ति से वंचित रहने का आदेश नहीं करता, परन्तु वह यह भी नहीं चाहता कि मनुष्य नितान्त स्वेच्छा चार और स्वार्थ का जीवन बितावें, इसलिए वह उनके अर्थ और काम

---

*कौटल्य की शासन पद्धति।

पर धर्म का अंकुश रखना है यह आदेश करता है कि सांसारिक जीवन में धर्म का यथेष्ट विचार रखा जाय।

उपसंहार—जिस प्रकार अगाध समुद्र अनेक आतप्य और मनन योग्य बातों से परिपूर्ण है उसी प्रकार आचार्य का जीवन कई बहुमूल्य शिक्षाओं से भरा हुआ है। एक साधारण ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर उसने अपने समय की एक अत्यन्त महान और बलवान राजशक्ति का सामना किया और अपने चातुर्य, दृढ़ता तथा साहस के बल से नन्द का नाश करके देश को बहुत कुछ नियमित और नियंत्रित शासक प्रदान किया, प्रजा के हित चिन्तना में लग रह कर सामाजिक जीवन के विविध क्षेत्रों के लिए उपयोगी नियम बनाये तथा उन नियमों का समुचित व्यवहार कराकर सर्वत्र शान्ति, सुख और समृद्धि में अद्भुत योग दिया।

इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि आचार्य का सब कार्य अपने व्यक्तिगत सुख, विलासिता या ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए नहीं था। जब वह अपनी इच्छानुसार राज्य संगठन का कार्य कर चुका तो उसने त्याग और शान्ति का मार्ग अवलम्बन किया। शास्त्रीय पद्धति के अनुसार उसने पुरुषोत्तम के जो आदर्श स्थिर किये हैं उन्हें उसने स्वयं अपने जीवन में भी चरितार्थ करके यह दिखला दिया कि वह उन लोगों में से नहीं था जिनका पांडित्य केवल दूसरों को उपदेश देने तक ही सीमित रहता है। यह दूसरों का शिक्षक था तो अपनी वासनाओं और कामनाओं पर यथेष्ट नियंत्रण भी रख सकता था। इस प्रकार यह आचार्य पद को वास्तव में चरितार्थ करनेवाला था; ऐसे व्यक्ति जिस देश और जाति में यथेष्ट संख्या में हों उसका उद्धार होने में क्या संदेह है? वह कदापि चिरकाल तक पराधीन नहीं रह सकती। आचार्य कौटल्य ही महान व्यक्ति था, वह धन्य है।

(२) कौटल्य का अर्थशास्त्र

आचार्य कौटल्य के अर्थशास्त्र का कुछ परिचय प्राप्त करने से पूर्व, भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य और विशेषतया आर्थिक साहित्य के सम्बन्ध में कुछ बातें जान लेना उपयोगी होगा।

भारतवर्ष का प्राचीन साहित्य—बहुत से पाश्चात्य विद्वानों की तथा कितने ही भारतीय लेखकों की भी यह धारणा है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष में आध्यात्मिक तथा पारलौकिक उन्नति की ओर ही ध्यान दिया जाता था, भारत के निवासी सांसारिक या भौतिक बातों की ओर प्रायः उदासीन रहते थे। किन्तु तनिक विचार करने से यह धारणा निर्मूल सिद्ध हो जायगी। प्राचीन भारतीयों की दृष्टि एकांगी नहीं थी। अनेक विद्वानों और ऋषियों ने इस संसार में, मानव जीवन के तीन उद्देश्य बतलाये हैं, धर्म, अर्थ और काम। इन तीनों अर्थात् "त्रिवर्ग" की सिद्धि में ही जीवन की सफलता मानी जाती थी।

यद्यपि इस समय निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि धर्म अर्थ, और काम में से प्रत्येक के सम्बन्ध में भारतवर्ष में प्राचीन काल में कितना कितना साहित्य तैयार था किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ विद्या का इतना विकास अवश्य हो चुका था कि विद्वानों को जीवन के तीनों उद्देश्यों के विषय में स्वतन्त्र रचना करने की आवश्यकता हुई और उन्होंने प्रत्येक विषय पर स्वतंत्र साहित्य तैयार किया; यह दूसरी बात है कि उसमें से कुछ इस समय प्रकाश में नहीं है।

प्राचीन आर्थिक साहित्य—भारतवर्ष में आर्थिक साहित्य बहुत प्राचीन समय से रहा है यहाँ तक कि इसका उल्लेख वेदों में भी मिलता है। इस साहित्य के प्रथम आचार्य बृहस्पति थे।

कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में स्थान-स्थान पर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का मत दिखाया है, और आवश्यकतानुसार उसकी आलोचना की है। इसे आचार्यों में कुछ ये हैं :—विशालाक्ष (इन्द्र), पाराशर,

करने की आवश्यकता प्रतीत होती थी। आचार्य कौटल्य ने इसी शैली का अवलम्बन किया है। उन्होंने ग्रन्थ के अन्तिम प्रकरण में तन्त्र-युक्तियों का उल्लेख किया है, जो प्रायः सब, उदाहरणों को छोड़कर, सुश्रुत के अन्तिम अध्याय में हैं। किन्तु आचार्य ने उनका जो क्रम रखा है, वह अधिक उपयुक्त है। साथ ही आचार्य के दिये हुए उदाहरण अधिक उपयोगी हैं, क्योंकि ये उदाहरण स्वयं आचार्य के ग्रन्थ से हैं, उनसे आचार्य की रचना की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

अर्थशास्त्र की भाषा प्राचीन ढंग की (Classical) है। इसमें लम्बे-लम्बे समास नहीं हैं, और शब्दों का व्यवहार बहुधा यौगिक अर्थों को लिये हुए है। ग्रन्थ में कुछ कम प्रचलित शब्द भी आये हैं, पर उनकी संख्या अधिक नहीं है। उनमें से बहुतसे मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य, शुक्र नीतिसार, कामन्दकीय नीति आदि राजनीति-ग्रन्थों में भी व्यवहृत हुए हैं, फिर जो नए शब्द हैं उन्हें आचार्य ने, स्वयं परिभाषा के रूप में समझाया है। किन्तु कहीं-कहीं पाठ भेद आदि के कारण उनकी परिभाषा के समझने में भी अड़चन पड़ती है।

कौटल्य सरल और व्यावहारिक भाषा प्रयोग करनेवाला है। उसने स्थान-स्थान पर लोकोक्तियाँ या कहावतें दी हैं। इससे उसकी भाषा सरस एवं चमत्कार-पूर्ण हो गयी है। उसकी लेखन शैली बहुत तर्कयुक्त तथा प्रामाणिक है। जब वह किसी विषय में अपने किसी पूर्ववर्ती आचार्य के मत की आलोचना या खंडन करता है या दो वस्तुओं के गुण दोष की तुलना करता है तो उसकी रचना देखते ही बनती है। स्थान-स्थान पर वह पाठक के हृदय में यह भाव बैठा देता है कि भाषा तथा विषय दोनों पर उसका पूर्ण अधिकार है। आचार्य एक शब्द को प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त करने के पक्ष में मालूम पड़ता है।

ग्रन्थ का उद्देश्य—कौटल्य ने अपना ग्रन्थ इस उद्देश्य से लिखा था कि इस एक ही ग्रन्थ के स्वाध्याय से राजा को शासन करने और

अधिकारों तथा सामाजिक, नैतिक और आर्थिक विषयों का ज्ञान हो जाय, और वह ऐसे मंत्री, नौकर और जासूस आदि रख सके, एवं ऐसे नियम जारी कर सके, जिनसे उसे अपने राज्य की उन्नति करने में सुविधा हो। आचार्य ने अर्थशास्त्र के दूसरे अधिकरण के दसवें अध्याय के अन्त में कहा है 'कौटल्य ने सब शास्त्रों को अच्छी तरह जानकर, और उनके प्रयोगों का भलीभाँति समझ कर राजा के लिए इस शासन विधि का उपदेश किया है।' पन्द्रहवें अधिकरण के अन्त में वह लिखता है, 'जिसने उसे क्रुद्ध होकर शास्त्र, शस्त्र और नन्दराज के हाथ में गयी पृथ्वी का जल्दी उद्धार किया है, उसने इस शास्त्र का निर्माण किया है।'"

ग्रन्थ की विशेषता—अर्थशास्त्र एक सामाजिक विद्या है, इसका आधार, मनुष्य की समाज में रहने की प्रवृत्ति, होती है और इसके सिद्धान्तों का प्रयोग किसी देश के आदमियों के लिए, उस देश की तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार पृथक्-पृथक् विधि से होता है। आचार्य कौटल्य का ग्रन्थ मौर्यकाल की राज्य सम्बन्धी आर्थिक एवं अन्य समस्याओं को दृष्टि में रखकर, उन्हें सुलझाने के लिए, लिखा गया है। इसमें उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जिनका राष्ट्रीय सरकार द्वारा उपयोग किया जाना बहुत लाभकारी समझा गया। अपनी वर्तमान अवस्था में और विशेष प्रकार के आर्थिक विचारों की शिक्षा पाने के कारण यह सम्भव है कि हमें आचार्य की कुछ बातें बड़ी अनोखी और अमान्य प्रतीत हों। परन्तु हमें इन पर विचार करते हुए यह स्मरण रखना चाहिए कि उसका 'अर्थशास्त्र' तत्कालीन भारत का राष्ट्रीय अर्थशास्त्र है। इसकी कितनी ही बातें इस समय भी यथेष्ट महत्त्वपूर्ण हैं, विशेषतया इसलिए कि यहाँ राष्ट्रीय सरकार स्थापित होगयी है।

कौटल्य की सफलता—किसी व्यक्ति के विचारों या सिद्धान्तों की सफलता, उन्हें कार्य में परिणत करने से होनेवाले परिणामों से

जानी जाती है। कौटिल्य के आर्थिक सिद्धान्तों की सफलता की जाँच करने के लिए हमें देखना चाहिए कि उनका प्रचार के बाद उस काल समय में क्या प्रभाव हुआ। क्या भारतवर्ष देश को स्वावलम्बी बना सका, क्या वह समाज को विदेशी श्रम और पूंजी के प्रभाव से सुरक्षित रख सका और क्या वह समाज में शूद्रों, कारीगरों, मजदूरों आदि की प्रतिष्ठा बढ़ाने में सहायक हो सका? स्मरण रहे कि समाज पर किस प्रयोग का क्या प्रभाव पड़ा, इसे भलीभाँति जानने के लिए कभी-कभी वर्षों ही नहीं, पीढ़ियों तक परीक्षा करनी पड़ती है। इसलिए कौटिल्य के आर्थिक विचारों के प्रयोग का परिणाम समझने के लिए हमें केवल उसके ही समय की परिस्थिति का विचार न कर उसके कुछ समय पश्चात् की, अशोक के समय की भी परिस्थिति जाननी होगी।

अशोक के समय में यहाँ जनता की सुख सामग्री कितनी बढ़ी चढ़ी थी, लोगों की सामाजिक दशा, व्यवहार, आमोद, दान धर्म, शान शौकत कितनी अधिक थी, इस विषय में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। इतिहास के पाठक भलीभाँति जानते हैं कि उस समय लोगों को न केवल अपने जीवन निर्वाह की चिन्ता न थी, वरन अनेक प्रकार आमोद प्रमोद करने की आदत थी। इससे सहज ही यह अनुमान हो सकता है कि उस समय भारतीय आर्थिक दृष्टि से बहुत उन्नत था।

यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन उत्तम आर्थिक परिस्थिति के उत्पादक कारण और भी रहे होंगे, तथापि इसमें सन्देह नहीं है कि उसमें कौटिल्य के सिद्धान्तों के प्रयोग का भी बड़ा भाग रहा है और इससे कौटिल्य की सफलता प्रकट है।

दूसरा अध्याय

— २ —

अर्थशास्त्र का विषय

इस पुस्तक में हमें यह विवेचन करना है कि भिन्न भिन्न आर्थिक विषयों में आचार्य कौटल्य के क्या विचार थे। पहले यह बता देना आवश्यक है कि आजकल अर्थशास्त्र के अन्तर्गत किन-किन विषयों का समावेश किया जाता है और आचार्य की दृष्टि में इस शास्त्र का क्षेत्र क्या था।

अर्थशास्त्र का आधुनिक क्षेत्र—प्रायः अर्थशास्त्र की परिभाषा इस तरह की जाती है कि यह वह विद्या है जो समाज में रहनेवाले मनुष्यों के अर्थ अर्थात् धन सम्बन्धी प्रयत्नों और विचारों का विवेचन करे। इस परिभाषा में, धन सम्बन्धी प्रयत्नों में धन का उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय, और वितरण आदि सम्मिलित हैं, जिनकी व्याख्या यथा प्रसंगानुसार की जायगी।

कुछ समय से आधुनिक अर्थशास्त्रियों की प्रवृत्ति अर्थशास्त्र के क्षेत्र को क्रमशः बढ़ाने की ओर रही है। कुछ अर्थशास्त्री व्यापार-संगठन, औद्योगिक व्यवस्था, यातायात के साधन, नगर-निर्माण आदि जनता के कुशल क्षेम तथा सुख-समृद्धि के प्रश्नों को अर्थशास्त्र के अन्तर्गत मानते हैं। आर्थिक बातों का पहले से अनुमान करना भी कुछ

कौटल्य के ग्रन्थ का विषय—आचार्य कौटल्य के अर्थशास्त्र क्षेत्र समझने के लिए उसके दो वाक्य पाठकों के पथ प्रदर्शक हो सकते हैं। आचार्य ने अपने ग्रन्थ का भोगपोस इस प्रकार या है, "पृथ्वी के प्राप्त करने और प्राप्त पृथ्वी की रक्षा करने के लिए जितने अर्थशास्त्र प्राचीन आचार्यों ने लिखे, प्रायः उन सबका ही ग्रहीत करके, यह एक अर्थशास्त्र बनाया गया है।" पुनः अपने ग्रन्थ के अन्तिम अधिकरण में, अर्थ की परिभाषा में यह बताकर कि मनुष्यों से युक्त भूमि का भी नाम अर्थ है, कौटल्य लिखता है, 'इस भूमि के प्राप्त करने और रक्षा करने के उपायों का निरूपण करनेवाला शास्त्र अर्थशास्त्र कहलाता है।' इससे स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र 'पृथ्वी को प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने' के उपायों का विचार करना है। यह भूमि जैसा कि उपयुक्त उद्धरण से निश्चित होता है, मनुष्यों से युक्त है, अथवा जैसा कि आचार्य के विवेचन से ज्ञात होता है मनुष्यों से युक्त की जानेवाली अथवा उनके लिए उपयोगी बनायी जानेवाली है। कौटलीय अर्थशास्त्र के देखने से ज्ञात होता है कि आचार्य प्रत्येक ऐसी बात का विचार करता है, जिससे समाज की सुख शान्ति बढ़े, उसकी शारीरिक और मानसिक उन्नति हो। उसने अपने अर्थशास्त्र में ब्रह्मचर्य की दीक्षा से लेकर वेश्यों के विभाग करने तक की अनेक बातें दी हैं। शहरों का बसाना, पुलिस पुलिस का इन्तजाम, फौज की रचना, अदालतों की स्थापना, दीवानी और फौजदारी के कानून विवाह सम्बन्धी नियम, दाय भाग, दस्तक, शत्रुओं पर चढ़ाई, किले बनाना,

(२) अध्यक्ष प्रचार—राज्य के विविध विभागों के अध्यक्षों अर्थात् निरीक्षकों या प्रधान अधिकारियों के सम्बन्ध में विचार।

(३) धर्मस्थीय—न्यायाधीश सम्बन्धी, विशेषतया दीवानी विषयक विचार।

(४) कण्टकशोधन—प्रजा की रक्षा सम्बन्धी, विशेषतया फौजदारी विषयक विचार।

(५) योग वृत्त—राजा और उसके अमात्यों की रक्षा सम्बन्धी विचार।

(६) मण्डल योनि—प्रकृतियों (स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष दंड और मित्र) के गुण तथा शान्ति और उद्योग सम्बन्धी विचार।

(७) षाड्गुण्य—सन्धि विग्रह, यान (शत्रु पर चढ़ाई करना), आसन (उपेक्षा), संश्रय (बलवान से मित्रता करना) और द्वैधी भाव (संधि और विग्रह दोनों का उपयोग) सम्बन्धी विचार।

(८) व्यसनाधिकारिक—दैवी और और मानुषी विपत्तियों सम्बन्धी विचार।

(९) अभियास्यत् कर्म—शक्ति देश, काल के बलाबल और विविध विपत्तियों से बचने की भावना आदि सम्बन्धी विचार।

(१०) सांग्रामिक—युद्ध सम्बन्धी विचार।

(११) संघवृत्त—भेद डालने वाले उपायों के प्रयोग तथा उपांशु दंड (छिपकर किसी का वध करा देना) आदि सम्बन्धी विचार।

(१२) आबलीयस—प्रबल अभियोक्ता के प्रति दुर्बल राजा के कर्तव्य सम्बन्धी विचार।

(१३) दुर्गलम्भोपाय—शत्रु के दुर्गों की प्राप्ति सम्बन्धी विचार।

(१४) औपनिषदिक—परघात प्रयोग, औषधि और मन्त्रों के प्रयोग सम्बन्धी विचार।

(१५) तंत्रयुक्ति—अर्थ के निर्णय के लिए उपयोगी युक्तियों संबंधी विचार।

स्थानाभाव तथा पाठकों की सुविधा का ध्यान में रखते हुए हम इस पुस्तक में आचार्य के केवल उन्हीं विषयों का विवेचन करेंगे जो आजकल अर्थशास्त्र के विषय माने जाते हैं।

तीसरा अध्याय

अर्थ या धन

इस पुस्तक के विषय को समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि अर्थशास्त्र की भाषा में 'अर्थ' या 'धन' शब्द से क्या अभिप्राय है, और इनके क्या क्या भेद हैं। पहले आधुनिक दृष्टि से विचार करते हैं, फिर कौटिल्य का मत देंगे।

अर्थ या धन का आधुनिक अभिप्राय—धन और यह

आदमी धन से रुपये पैसे आदि सिक्कों या सोना चाँदी आदि धातुओं का ही आशय लेते हैं। परन्तु वास्तव में सोचा जाय तो ये ही चीजें धन नहीं हैं, इनसे प्रत्यक्ष रूप से ही हम भूख प्यास, सर्दी गर्मी आदि नहीं मिटती। मनुष्यों को अपने जीवन निर्वाह या भौतिक सुख के लिये मूल आवश्यकता भोजन वस्त्र, तथा मकान आदि की होती है। इन चीजों को या तो वह स्वयं बनाता है, या दूसरों की बनी हुई लेता है। जिस दशा में वह दूसरों से लेकर अपना काम चलाना चाहता है, उसे उनके बदले में अपनी बनायी हुई कुछ चीज देनी होती है, या उसकी कीमत चुकानी होती है। बहुतसी चीजें ऐसी होती हैं, जिनके उत्पन्न या तैयार करने में मनुष्यों को एक दूसरे की, या दूसरों के साधनों की, सहायता की आवश्यकता होती है इस दशा में उन्हें उनका प्रतिफल देना होता है।

अस्तु, अर्थशास्त्र में धन के अन्तर्गत मनुष्यों द्वारा उत्पन्न या संग्रहीत वे सब पदार्थ माने जाते हैं, जिनसे उनकी किसी प्रकार की शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है, और जिन्हें देकर बदले में अन्य उपयोगी वस्तुएँ मिल सकती हैं। इस प्रकार अन्न, कपड़ा, लोटा, लकड़ी आदि व्यवहारोपयोगी वस्तुएँ धन हैं। आजकल धन का कुछ और भी व्यापक अभिप्राय लिया जाने लगा है। यद्यपि अभी तक सर्वसाधारण धन के अन्तर्गत भौतिक या स्थूल पदार्थों का ही समावेश करते हैं, तथापि बहुत से अर्थशास्त्री कुछ सूक्ष्म वस्तुओं को भी धन मानने लगे हैं। उदाहरण के लिए वे मनुष्यों द्वारा की जाने वाली सेवाओं को भी धन मानते हैं। मतलब है, [illegible] में [illegible]

की रक्षा हो सके; थोड़े ही परिश्रम से अन्न पैदा हो जाय; अपने शत्रु से द्वेष रखनेवाले मनुष्यों की आबादी हो आस-पास कमजोर राजा हो कीचड़, कंकर, ऊसर, ऊँची-नीची जमीन, चोर, बदमाश, स्वाभाविक अपराधी हिंसक जानवर और घने जंगल न हों नदी तालाब आदि से युक्त खेती हो, खान, लकड़ियाँ और हाथी मयस्सर हों गाय भैंस आदि पर्याप्त हों जल और थल में तरह-तरह की बिक्री की चीज़ें पैदा हों, निम्नवर्ण के, प्रेम करनेवाले तथा शुद्ध हृदयवालों की आबादी हो, वही जनपद सम्पत्ति कहलाता है।

दंड सम्पत्ति—दंड सम्पत्ति में क्रमागत और स्थिर सेनाभाव, आज्ञापालन, राजा की ओर से भरण पोषण के विषय में सन्तुष्ट रहना, यात्रा में भी अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने की योग्यता होना, युद्ध चातुर्य, सहिष्णुता, हानि-लाभ का विचार न कर राजभक्त होना आदि गुण और योग्यताएँ गिनायी गयी हैं।

जंगम सम्पत्ति—चमड़ा, बाल, दाँत हड्डी आदि ऐसी वस्तुएँ भी जो जंगम सृष्टि (पशु पक्षी आदि) से उत्पन्न होती हैं, आचार्य की निगाह से नहीं बची हैं। हाथी-दाँत जैसी चीज़ें भारतवर्ष से बाहर अच्छी कीमत पर बिकती थीं, अतः इनका भी अर्थशास्त्र में सम्यक् विचार किया गया है।

सारांश—निस्सन्देह कौटिल्य की दृष्टि में सम्पत्ति धन या अर्थ शब्द अत्यन्त व्यापक है। उसके मत से, जिस गुण का भी उपयोग किया जा सकता है, जो हानि से बचा सकता है, जिस परिस्थिति से लाभ उठाया जा सकता है, वह सब सम्पत्ति है। कौटिल्य ने स्थान

ग्रन्थ में धन के इस व्यापक क्षेत्र को बराबर लक्ष्य में रखा है। इसलिए उसने आर्थिक लाभ की दृष्टि से उपयुक्त विविध प्रकार की सम्पत्ति के उपयोग और वृद्धि सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण बातें बतलाई हैं। हम उनका आगे प्रसंगानुसार उल्लेख करेंगे। अस्तु, आचार्य कौटल्य के अनुसार अर्थ या धन का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि आधुनिक अर्थशास्त्रियों में से जो धन का व्यापक अर्थ लेते हैं, वे भी आचार्य के अर्थ की सीमा तक नहीं पहुँचते। हाँ, जैसा कि पहले कहा गया है आजकल अर्थशास्त्र के विद्वानों की वर्तमान प्रवृत्ति इस ओर अग्रसर है कि वे धन का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत करें। सम्भव है कि वे भविष्य में आचार्य के विचार तक पहुँच जावें।

चौथा अध्याय

उपभोग के पदार्थ

मनुष्य जिन वस्तुओं की उत्पत्ति या अर्जन इसीलिए किया करते हैं कि उन्हें विविध आवश्यकताएं होती हैं, वे भिन्न-भिन्न वस्तुओं का उपभोग करना चाहते हैं। अस्तु, इस अध्याय में आचार्य के उपभोग सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डाला जायगा; पहले उपभोग के तत्कालीन पदार्थों का विवेचन किया जाता है।

भारतवासियों की सुख-समृद्धि—अर्थशास्त्र के अनुसार उन वस्तुओं की सूची बहुत लम्बी है जिन्हें उस समय का भारतीय समाज काम में लाता था। उदाहरण के लिए आचार्य ने यद्यपि ऊनी रेशमी और सूती वस्त्र, सोने चाँदी और ताँबे आदि के बर्तन हीरा, मूँगा, मोती, चन्दन, कपूर, कस्तूरी खस आदि मूल्यवान वस्तुओं से लेकर अनेक प्रकार की औषधियों, घी, तेल अनेक प्रकार के अन्न, दाल, लकड़ी, पत्थर, रत्न, आभूषण, पुष्प, वाहन हाथी, घोड़े, गाय, भैंस, तोता मैना आदि पालतू पशु-पक्षियों तक का उल्लेख किया है। उसने खाने के कवच, रत्न जड़ित हथियार, बड़ी नाव, भाँति-भाँति के भोजन और आमोद प्रमोद के साधनों का भी वर्णन किया है। इससे तथा तत्कालीन विदेशी यात्रियों के लेखों से यह सहज ही अनुमान हो सकता है कि यहाँ अधिकतर समाज सुख-सम्पन्न था। परन्तु हमें उपभोग-सम्बन्धी कुछ विशेष विचार करना चाहिए। विस्तार भय से हम यहाँ कुछ खास-खास आवश्यकताओं की ही पूर्ति का विचार करते हैं।

भोजन—यहाँ गेहूँ, मूँग, उड़द, चावल आदि नाना प्रकार के अन्न होते थे। फलतः यहाँ उनका उपभोग होता था। अर्थशास्त्र में धान्यवर्ग के अतिरिक्त, स्नेह (घी तेल आदि), क्षार वर्ग (राब, गुड़ खांड, मिश्री कन्द आदि), लवण (नमक आदि), मधु (शहद) और तरह तरह के मसाले आदि का भी उल्लेख मिलता है।

आचार्य ने मनुष्यों एवं पशु पक्षियों के भोजन का परिमाण, तथा विविध भोजनों के बनाने की विधि भी ब्योरेवार लिखी है। बिना टूटे

बने हुए वस्त्र, ओढ़ने बिछाने तथा पहनने के वस्त्र, मोटे रेशमी कपड़े, महीन रेशमी बढ़िया-बढ़िया कपड़े चीन के बने रेशमी कपड़े, रंकु नामक हिरण के बालों के कपड़े, सम्भल तथा सन के कपड़े और छाल को कूटकर निकाले हुए रेशों से बने तरह-तरह के वस्त्र, जिनका मूल्य बाजार में कपड़े की चिकनाहट, बनावट और मोटाई तथा माप के वजन के अनुसार होता था, दुशाले, भेड़ और बकरी के ऊन के वस्त्र आदि। वस्त्रों के इन उदाहरणों से सिद्ध है कि उपभोग की यह मद साधारण पदार्थों तक ही परिमित न थी।

धातु और रत्न—अर्थशास्त्र के 'कोष में ग्रहण करने योग्य रत्नों की परीक्षा' शीर्षक प्रकरण में दस से लेकर एक हजार आठ मातियों तक की मालाओं का उल्लेख है जिनमें कई-कई लड़ होती थीं। आचार्य ने तीन प्रकार के जवाहरात, छः प्रकार के हीरे, दो प्रकार के प्रवाल (मूँगा) बतलाकर इन में से एक-एक के बहुत से भेद गिनाये हैं। उनने सोने के पांच और चाँदी के पांच भेद बतलाते हुए इनके अनेक आभूषणों तथा इन धातुओं के अतिरिक्त तांबे लोहे जस्त कांसे आदि के बर्तन और अन्य वस्तुओं का भी उल्लेख किया है। इनके उपभोग से समाज की समृद्धि का अच्छा सबूत मिलता है।

उपभोग के अन्य पदार्थ—रोजमर्रा काम में आनेवाले जिन अन्य पदार्थों का आचार्य ने उल्लेख किया है उनमें से कुछ निम्न लिखित हैं —

चन्दन—कम से कम बारह प्रकार का। अगर, दारु हल्दी आदि के अनेक भेद।

अस्त्र-शस्त्र चलाने का अभ्यास होता था। ऐसी स्थिति में लड़ाई के सामान काफी परिमाण में होना तथा उसका घर-घर प्रचार होना स्वाभाविक ही था। अर्थशास्त्र में युद्धोपयोगी वस्तुओं की लम्बी सूची दी गयी है।

विशेष वक्तव्य—सम्भव है, कुछ पाठकों का इस अध्याय की, उपभोग के पदार्थों की सूची बहुत प्रतीत हो, तथापि यह पूर्ण नहीं है। अर्थशास्त्र में उल्लेख की हुई सब वस्तुओं के नाम देना अभीष्ट भी नहीं है। ऊपर दिये उदाहरण भारतवासियों की तत्कालीन आर्थिक परिस्थिति का परिचय देने के लिए काफी हैं।

पाचवा अध्याय

— ० —

रहन सहन और आचार-व्यवहार

पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि आचार्य कौटल्य के ग्रन्थ से यहाँ के उपभोग्य पदार्थों की कैसी जानकारी प्राप्त होती है। अब इस अध्याय में हम यह देखेंगे कि उस समय यहाँ लोगों का रहन सहन और आचार-व्यवहार कैसा था तथा आचार्य ने उनके सम्बन्ध में क्या विचार प्रकट किया है, अथवा व्यवस्था की है।

लोगों का रहन सहन—यद्यपि आचार्य ने लोगों के रहन सहन के विविध नियम दिये हैं, उनसे उनके तत्कालीन रहन सहन का क्रमबद्ध वर्णन नहीं किया है। इसलिए और आचार्य के दिये ... को

समझने के लिए इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध विदेशी यात्री मेगस्थनीज के लेख का निम्नलिखित उद्धरण विचारणीय है। वह लिखता है कि 'भारतवर्ष के लोग अपने घर और सम्पत्ति को प्रायः अरक्षित (बिना ताला लगाये) छोड़ देते हैं, चोरी बहुत कम होती है। चन्द्रगुप्त की छावनी में प्रायः चार लाख आदमी रहते थे, किन्तु वहाँ किसी भी दिन दो सौ द्राक्मी (लगभग चालीस रुपये) से अधिक की चोरी की सूचना नहीं होती थी। वे अपनी चाल ढाल में सीधे और मितव्ययी होने के कारण बड़े सुख से रहते हैं। यज्ञों को छोड़कर मदिरा कभी नहीं पीते। उनका भोजन चावल व जौ से बनाया जाता था। व्यंजन अधिकतर मांस था।'* उसने यह भी लिखा है कि 'स्त्रियाँ वर्ष के आरम्भ में ही वर्ष भर तक काम में आनेवाली, तथा मसाला आदि वस्तुएँ संग्रह करती थीं। घर भूषण शृंगार की सामग्री की भी कमी न थी। नागरिक सँवारे हुए बाल रखते थे, और आवश्यकता पर घोड़े पर चढ़कर सवारियाँ मनाने के लिए बागों में जाया करते थे, नाच रंग का भी सामान रहता था।' उसका यह भी कथन है कि भारतवासी सदाचार और सचाई की खूब प्रतिष्ठा करते हैं, वृद्धों का भी तब तक विशेष आदर नहीं देते, जब तक उनकी भावनाएँ बहुत ऊँची न हों।

---

*यह बात [illegible] मैक्रिन्डल (हिन्दी) के अनुवाद के आधार पर लिखी गयी है। हम पहले कह चुके हैं कि यहाँ बहुत से ग्रन्थ आदि भिन्न भिन्न प्रकार के नष्ट हो गये हैं, फलतः इस [illegible] भिन्न रचना में भारत के [illegible] की जानकारी होती है।

नैतिक स्थिति—इन उद्धरणों से दो बातें स्पष्ट हैं (१) भारतवासी सुखी, और सम्पन्न अवस्था में थे, (२) भारतवासियों की नैतिक स्थिति भी ऊँचे दर्जे की थी। विचारणीय प्रश्न यह है कि इन दोनों बातों का मेल कैसे था? बहुत से पाठकों को इन दोनों बातों के एक साथ एक ही समय होने में सन्देह हो सकता है, विशेषतया जब कि यह देखने में आता है कि यदि चोरी आदि के कुछ अपराध निर्धनों और अशक्तों में विशेष रूप से होते हैं तो कुछ अन्य अपराध और भी अधिक परिमाण में धनिकों में देखने में आते हैं। इस विषय का सम्यक् विचार करके आचार्य कौटल्य ने अर्थशास्त्र में प्रजा के सदाचार को उच्च बनाने के लिए बहुत जोर दिया है, और जिन लोगों पर इस बात का प्रभाव नहीं पड़ सकता था, उनके लिए उसने कठोर दंड की भी योजना की है।* इतिहास की साक्षी से जान पड़ता है कि आचार्य को अपने उद्देश्य में आशातीत सफलता हुई। प्रजा का आदर्श इतना ऊँचा हो गया कि देश में अपराधियों का प्रायः अभाव सा हो गया।

हाँ कुछ बातें भी थीं जो आधुनिक सभ्य समाज में अच्छी नहीं मानी जातीं, जैसे एक पुरुष का कई स्त्रियों से विवाह, मद्यपान और वेश्यागमन। आचार्य ने इनके नियन्त्रण या विरोध के लिए

---

*यद्यपि साधारणतौर कठोर दंड की व्यवस्था के विरुद्ध बहुत कुछ कहा जा सकता है देशकाल के अनुसार विशेष परिस्थितियों में नीतिकारों ने सर्वत्र इसकी आवश्यकता अनुभव की है।

था, और इसलिये नगर किलों के रूप में बनाये जाते थे। मकान बनाने में ईंट और पत्थर के अतिरिक्त आवश्यकतानुसार लकड़ी का उपयोग होता था। आचार्य ने लकड़ी के उपयोग का विरोध किया है। 'दुर्ग विधान' के प्रकरण में वह कहता है कि प्राकार (परकोटा) लकड़ी का कभी नहीं बनवाना चाहिये, क्योंकि इसमें सदा अग्नि रहती है। आचार्य ने अग्नि से मकानों की रक्षा करने के विविध उपाय बतलाये हैं।

आचार्य ने लिखा है कि नगर चारों ओर एक प्राकार से घिरा होना चाहिए, जिसमें बारह द्वार हों। नगर में तीन रास्ते पूर्व से पश्चिम की ओर, और तीन रास्ते उत्तर से दक्षिण की ओर जानेवाले बनाये जायें। इन छः मार्गों में गृहनिर्माण के लिए भूमि का विभाग होना चाहिए। नगर के राजमार्ग और ऐसे मार्ग जो द्रोणमुख (तहसील) और स्थानीय (जिले) और राष्ट्र (प्रान्त) को तथा चरागाहों को जानेवाले हों, आठ गज चौड़े रखे जायें। छावनी, श्मशान और गाँव को जाने के मार्ग इससे दुगने बनाये जायें।* जनता के आने जाने के मार्ग शुद्ध जल और भूमिवाले बनाये जायँ, जहाँ छिड़काव होता हो। इधर उधर कुएँ प्याऊ आदि हों।

नगर की चारदिवारी के बाहर २८, २४ या २० गज चौड़ी तथा कम-से-कम १० फुट गहरी खाई खोदी जाय, जो सदा जल से भरी

*कौटल्य ने ग्राम्य मार्गों की चौड़ाई भी निर्धारित की है। इस विषय का कुछ उल्लेख हमने 'व्यापार के मार्ग और साधन' अध्याय में किया है।

उसका आदेश है कि थोड़ी थोड़ी शराब भी राजकीय आज्ञा के बिना केवल उस व्यक्ति को दी जाय जिसके आचार-विचार के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी हो। अपनी हैसियत से अधिक मद्यपान में खर्च करनेवाले व्यक्ति शराबखाने में ही पकड़ लिए जायँ। कौटिल्य का नियम है कि शराब साधारणतया शराबखाने में ही पीयी जाय। आचार्य शराबखानों में राजकीय गुप्तचरों की भी योजना करता है।

जान पड़ता है कि उस समय शराब का प्रचार बहुत बढ़ गया था। इसलिए इस विषय में कौटिल्य को एकाध रियायती नियम भी रखना पड़ा है। उदाहरण के लिए उसने यह नियम करके कि मजदूरों को उनका वेतन सिक्के (तथा खाद्य पदार्थों) में दिया जाय, इस बात की व्यवस्था की है कि ऊँट, भैंस या सुअर आदि के पालन पोषण जैसे तुच्छ कार्यों के बदले में छोटे दर्जे के नौकर चाकरों को घटिया शराब दे दी जाया करे। वह बढ़िया शराब तो अधिक मूल्य पर ही बेचने का नियम रखता है। वह इस बात की अनुमति नहीं देता कि कम मूल्य पर, उधार या अधिक ब्याज पर भी बढ़िया शराब बेची जाय। यद्यपि समाज की तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार वह पर्व आदि के उत्सवों पर, तथा सामाजिक जलूस या विवाह शादी आदि के अवसर पर, मद्यपान सम्बन्धी प्रतिबन्ध शिथिल करता है किन्तु ऐसी अनुमति चार दिन से अधिक के लिए एक समय में किसी दशा में नहीं दी जाती। यदि इस प्रकार की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् कोई व्यक्ति अधिक दिन तक शराब पीये तो उसे प्रत्येक

लक्ष्मी के गृह बनाये जायें। इनमें अपने-अपने विचार या उस-उस देश के अनुसार भिन्न भिन्न देवताओं की स्थापना की जाय।' इसके अतिरिक्त, लोग भिन्न-भिन्न दिशाओं के देवताओं तथा नगर रक्षक देवताओं की उपासना किया करते थे। अनेक देवताओं की सोने चाँदी के मूर्तियाँ बनायी जाती थीं। इससे इस मद में खर्च का कुछ अनुमान किया जा सकता है। लोकमत की अवहेलना करके, कौटिल्य ऐसे खर्च को बन्द करने का आदेश नहीं करता, तथापि वह इसका राज्य के लिए उपयोग करता हुआ मालूम होता है। वह लिखता है कि किसी पाखंडी या समूह की सम्पत्ति को, तथा जिसमें से श्रोत्रियों को न मिलता हो ऐसे किसी मन्दिर की सम्पत्ति को, "यह उन मनुष्यों की सम्पत्ति है, जो मर गये हैं अथवा जिनके घर जल गये हैं," ऐसा सूचित करके राजा के आदमी जब्त करलें। देवताध्यक्ष दुर्ग और राष्ट्र के देवताओं (देव मन्दिरों) के आय धन को यथोचित रूप से एक स्थान पर रखें और फिर राज काज में जमा कर लिया करें।

उन दिनों लोगों का मन्त्र-तन्त्रों पर भी बहुत विश्वास था। लोग समझते थे कि भिन्न भिन्न प्रकार की मन्त्र-तन्त्र सिद्धि से भिन्न-भिन्न कार्यों में सफलता मिल जाती है। कौटल्य ने इसका खंडन नहीं किया है, परन् देशकाल के प्रवाह से उसने लाभ उठाने का प्रयत्न किया है। उसने शत्रुओं पर विजय पाने के लिए ऐसे ढोंगी गुप्तचरों की व्यवस्था बतलायी है, जो ऐसी युक्तियों का प्रयोग करें।

उपयोगिता कई तरह बढ़ायी जाती है। अनेक दशाओं में वस्तु का रूप रंग या आकार आदि का परिवर्तन होता है। ऐसे परिवर्तनों में खेती करना, खानों से खनिज पदार्थ निकालना, तालाब आदि से मछली पकड़ना, शिकार करना आदि शामिल है। सूत कातना, कपड़ा बुनना, कल-कारखानों में अन्य विविध पदार्थ तैयार करना भी ऐसे ही परिवर्तन हैं। व्यापार करने में स्थान-परिवर्तन होता है, इससे वस्तुएँ ऐसी जगह पहुँचायी जाती हैं, जहाँ उनकी माँग अधिक होती है, अथवा, दूसरे शब्दों में, जहाँ वे अधिक उपयोगी होती हैं। कुछ वस्तुएँ विशेष समय के लिए संग्रह करके रखी जाती हैं, इससे उस समय उनकी उपयोगिता बढ़ जाती है। निदान, उपयोगिता-वृद्धि के विविध प्रकार हैं। किसी वस्तु की उपयोगिता बढ़ाने को आधुनिक अर्थशास्त्र में धनोत्पादन का कार्य कहा जाता है।

कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में धनोत्पत्ति की इस प्रकार कोई परिभाषा नहीं की है, तथापि उसने उत्पत्ति के विविध रूपों का विचार किया है।

धनोत्पत्ति के साधन—धनोत्पत्ति के क्या साधन हैं, यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। कल्पना करो कि अन्न उत्पन्न करना है। खेती के लिए भूमि चाहिए, किसान को हल चलाने, और पानी देने आदि में श्रम करना होगा, साथ ही उसे बीज हल बैल आदि ऐसी चीजों की भी आवश्यकता होगी, जिन्हें उसकी पूँजी कहा जाता है। इन सब साधनों की उचित व्यवस्था करने से, कुछ समय में, अन्न की उत्पत्ति होगी।

र और पुलिन्द आदि भील जातियाँ एवं चाँडाल और इधर उधर घूमने फिरनेवाले आदमियों को किले में आश्रय देकर उनसे सीमान्त की रक्षा का कार्य लिया जाय।

उसकी दृष्टि में नदी, ताल और नहरों की उपयोगिता केवल सिंचाई की ही दृष्टि से नहीं है वह उन्हें मछलियों और शाकों की पैदावार बढ़ाने के लिए भी आवश्यक मानता है। साथ ही उसने नयी आबादी के लिए तैयार की हुई भूमि की उपयोगिता बढ़ाने के वास्ते स्थल मार्ग, जल मार्ग, और मंडियों की भी योजना की है। उसने उस प्रवाह में खान खोदने, कारखाने चलाने, जंगलों से लकड़ी और हाथी लाने, तथा पशुपालन को उत्तेजना देने का परामर्श दिया है। उसकी राय है कि नयी भूमि अधिकतर राजकर्मचारियों को ही दी जाय। सम्भव है, उसका यह विचार रहा हो कि राज्य के दबाव के कारण वे ऐसे स्थानों को, उन आपत्तियों से बचने के लिए न छोड़ भागेंगे, जो वहाँ अवश्यम्भावी होती हैं।

आचार्य ने ऐसे और भी नियम दिये हैं, जिनसे जङ्गलों को काटकर नयी भूमि को उपयोगी बनाने में प्रोत्साहन मिले। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

१—किसानों को जमीन दी जाय पर छीनी न जाय। जो किसान खेती न करें उनसे लेकर दूसरे खेती करनेवालों को दे दी जाय।

२—गाँव की सेवा करनेवाले बढ़ई, सुनार या व्यापारी लोगों को जमीन खेती के लिए दे दी जाय।

कितनी मात्रा में हुई है। उसने भूमि भेद से इस बात का विवेचन किया है कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं की अच्छी फसल के लिए किस किस भाग में कितनी वर्षा पर्याप्त मानी जा सकती है। उसने यह भी बतलाया है कि सूर्य मंडल, शुक्र बृहस्पति की गति का, अथवा बादलों के रंग-ढङ्ग को, देखकर किस प्रकार कई मास पूर्व यह अनुमान हो सकता है कि वृष्टि उचित तथा लाभकारी होगी या नहीं।

इस सम्बन्ध में कौटल्य ने जो ब्यौरेवार बातें लिखी हैं, उन्हें यहाँ विस्तार-भय नहीं लिखा जाता। इसमें सन्देह नहीं कि उन बातों से जहाँ आचार्य की तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय मिलता है, वहाँ यह भी भली भाँति सिद्ध होता है कि भारतवर्ष ने अब से सवा दो हजार वर्ष पहले ही ऊँचे दर्जे की वैज्ञानिक, भौतिक तथा ज्योतिष सम्बन्धी उन्नति करली थी। अस्तु, यही नहीं कि यहाँ वर्षा से यथेष्ट लाभ उठाया जाता था, वरन् प्राकृतिक स्थिति का अध्ययन करके यहाँ पहले से यह अनुमान कर लिया जाता था कि वर्षा कब और कितनी मात्रा में होगी। इससे खेत की तैयारी का समय जानने, और वर्षा का समुचित उपयोग करने में बड़ी सहायता मिलती थी।

जंगलों की तुलनात्मक उपयोगिता—अपने समय की परिस्थिति के अनुसार कौटल्य इस प्रश्न पर भी विचार करता है कि हाथियों के जङ्गल से लकड़ी आदि का जङ्गल अच्छा है या नहीं कौटल्य के पहले भारतीय अर्थशास्त्री लकड़ी आदि के जङ्गल को ही अधिक पसन्द करते थे, कारण कि उसमें अनेक उपयोगी पदार्थ होते हैं, तथा व सरलता से संचित किये जा सकते हैं, किन्तु हाथीवाले

भेद से दो तरह का बताया गया है।

भारतभूमि चिरकाल से रत्नगर्भा प्रसिद्ध रही है। खनमी यहाँ विविध पदार्थ पाये जाते हैं। कुछ समय से वे अधिकाधिक मात्रा में निकाले जा रहे हैं, परन्तु उनके निकालने का काम अधिकतर विदेशियों के हाथ में रहा। हमारी खानें खाली होती रही हैं और उनका उपयोग इस देश के हित का लक्ष्य में रखकर नहीं किया गया है। कौटल्य के समय में ऐसा नहीं होता था, न हो ही सकता था।

समुद्र तट—आचार्य समुद्र और समुद्र-तट के आर्थिक महत्व को खूब समझता था। उसने मोतियों और अन्य प्रकार के बहुमूल्य जवाहरात की उत्पत्ति के दस स्थानों का उल्लेख किया है उनमें भारतीय समुद्र-तट के अतिरिक्त सिंहल द्वीप, ईरान, बर्बर (सम्भवतः अफ्रीका का किनारा), मलाया और यूनान आदि देशों के समुद्र-तट गिनाये हैं।

भूमि का विस्तार—कौटल्य ने भूमि सम्बन्धी विविध बातें अधिकतर भारतवर्ष को ही लक्ष्य में रखकर बतलायी हैं। इसलिए यह जान लेना उपयोगी होगा कि उसके समय में कितनी भूमि इस देश के अन्तर्गत मानी जाती थी। विदित हो कि भारतवर्ष के पश्चिम में चन्द्रगुप्त का राज्य, काठियावाड़ तक फैला हुआ था। वहाँ उस समय चन्द्रगुप्त की ओर से पुष्यगुप्त गवर्नर का काम करता था। इतिहास लेखक स्मिथ के अनुसार सेल्यूकस से सन्धि हो जाने के पश्चात् सन् ३०३ ई० पू० के लगभग सम्पूर्ण पञ्जाब, काबुल, हिरात, कंधार और मकरान तक का प्रान्त चन्द्रगुप्त के राज्य में शामिल हो

हाथी थी। दो। वितस्ति अर्थात् २४ अंगुल का हाथ होता था, इसे प्राजापत्य हाथ कहते थे—इसके आगे के पैमाने इस प्रकार थे—

४ हाथ	=१ दंड
१० दंड	=१रज्जु (गट्ठा या जरीब)
२ रज्जु	=१ परिदेश
१½ परिदेश (तीस दंड)	=१ निवर्तन
६६⅔ निवर्तन या दो हजार धनु (दंड)	=१ गोरुत या कोस
४ गोरुत	=१ योजन

जिस परिमाण में लम्बाई-चौड़ाई एकसी न होकर, एक ओर तीस दंड, और एक ओर पचीस दंड हो, उस परिमाण को 'बाहु' कहते थे।

चरागाह नापने में एक हाथ २४ के बजाय २८ अंगुल का समझा जाता था। जंगल नापने के लिए एक हाथ की लम्बाई ५४ अंगुल प्रचलित थी। जो भूमि ब्रह्मदेय या माफी की होती थी, उसमें एक दंड छः कंस अर्थात् १६२ अंगुल का माना जाता था।

आचार्य के भूमि सम्बन्धी विचारों को यहाँ समाप्त करके अगले अध्याय में हम उसके श्रम सम्बन्धी विचारों का परिचय देंगे।

—:•—

दसवां अध्याय

श्रम या जनता

भूमि से स्वयं बहुत थोड़े, सो भी कच्चे पदार्थ पैदा होते हैं। उन्हें भी सुन्दर काम के लायक या अधिक उपयोगी बनाने के लिए श्रम

(४) बढ़ई।

(५) स्थपकार, मकानादि बनानेवाले।

(६) कुम्हार, धोबी, रंगरेज, बाँस की चीज बनानेवाले, सोना आदि बेचनेवाले।

(७) राज्य की सेवा करनेवाले, सैनिक, छोटे कर्मचारी मोहर्रिर आदि तथा गाँव के नौकर, चौकीदार आदि।

(८) वैद्य, चिकित्सक।

(९) पुरोहित और ज्योतिषी।

(१०) गाने-बजाने का पेशा करनेवाले नट, कुशीलव आदि

(११) विविध, स्नानागार के नौकर, नाई, सफाई का काम करनेवाले, समाचार लाने-ले जानेवाले;

इनके अतिरिक्त खेतों में मजदूरी करनेवाले और घरों में काम के दैनिक वेतन पानेवाले आदि गिने चाहिएँ।

शिक्षा—देश की तत्कालीन सम्पन्नता और विलासिता से कला त के जिस विकास का अनुमान होता है वह नियम-पूर्वक शिक्षण ना स्थायी नहीं हो सकता था। अर्थशास्त्र से विदित होता है कि

(४) बढ़ई।

(५) सूत्रकार, मकानादि बनानेवाले।

(६) कुम्हार, धोबी, रंगरेज, बाँस की चीज बनानेवाले, लोहा आदि बेचनेवाले।

(७) राज्य की सेवा करनेवाले सैनिक, छोटे कर्मचारी मास्टर आदि तथा गाँव के नौकर, चौकीदार आदि।

(८) वैद्य, चिकित्सक।

(९) पुरोहित और ज्योतिषी।

(१०) गाने-बजाने का पेशा करनेवाले नट, कुशीलव आदि

(११) विविध, स्नानागार के नौकर, नाई, सफ़ाई का काम करनेवाले, समाचार लाने-ले जानेवाले;

इनके अतिरिक्त खेतों में मज़दूरी करनेवाले और घरों में काम करके दैनिक वेतन पानेवाले आदि गिने चाहिएँ।

शिक्षा—देश की तत्कालीन सम्पन्नता और विलासिता से कला कौशल के जिस विकास का अनुमान होता है वह नियम-पूर्वक शिक्षण के बिना स्थायी नहीं हो सकता था। अर्थशास्त्र से विदित होता है कि उस समय श्रमियों की शिक्षा का प्रबन्ध मुख्यतया दो प्रकार से होता था:—मज़दूर-संघों के द्वारा और अध्यक्षों के द्वारा। भिन्न भिन्न पेशेवालों के संघ उस पेशे सम्बन्धी शिक्षा की व्यवस्था किया करते थे और विविध सरकारी विभागों के अध्यक्ष अपने कार्यों का संचालन करने के लिए बहुतसे श्रमियों को वेतन पर रखकर उनसे काम कराते, तथा उन्हें अनेक वस्तुएँ बनाने की शिक्षा देते थे।

की दशा में उनकी चिकित्सा की यथेष्ट व्यवस्था हो। यही कारण है कि धनोत्पत्ति का कार्य निर्विघ्न चलता रखने के लिए नागरिकों के स्वास्थ्य और चिकित्सा के विषय में समुचित ध्यान दिया जाना आवश्यक होता है। कौटिल्य भी इस ओर उदासीन न था। उसकी सम्मति में खाद्य वस्तुओं में मिलावट करना या नकली चीजें बेचना घोर अपराध था। उसने धान्य, घी, तेल आदि, क्षार (गुड़ खांड आदि), नामक, सुगन्धित द्रव्य और औषधियों में उसी तरह की कम कीमत की वस्तुओं की मिलावट रोकने के नियम विशेष रूप से प्रचलित किये थे। इसी प्रकार सफाई की दृष्टि से आचार्य राजमार्ग, मन्दिर, विद्यालय आदि पुण्यस्थानों, कुएँ, तालाब आदि जल-स्थानों और सरकारी इमारतों के पास कूड़ा, कीच या पानी आदि डालकर रास्तों का रोकना अथवा इन स्थानों पर मलमूत्र डालना या बिलाव, कुत्ता, नेवला, साँप, गधा, ऊँट, खच्चर घोड़ा और मनुष्य की लाश डाल देना निन्दनीय ठहराता है। वह तो मुर्दों को लेजाने का मार्ग भी अलग बनाने की सलाह देता जान पड़ता है। उसने नगर निर्माण सम्बन्धी नियम इस प्रकार बनाये हैं कि आदमी उस दिशा की हवा से बचे रहें, जिसमें गन्दे और मैल काम करनेवाले मनुष्यों की आबादी हो। स्वास्थ्य का ऐसा विकसित विचार आधुनिक म्युनिसिपैलिटियाँ भी कार्य रूप में परिणत नहीं कर रही हैं। शिल्पशालाओं, मद्य और मांस की दूकानों और अन्य सार्वजनिक स्थानों के विषय में भी उसने ऐसे ही नियम बनाये हैं। 'नागरिक' (नगर अधिकारी) को विशेष रूप से नाली मोरी और जलाशयों आदि की देखभाल करनी होती थी।

काम समय पर अच्छा करने की दशा में, इनाम आदि मिलता रहे, जिससे वे प्रोत्साहित होकर अपने अपने काम में उन्नति करें।

श्रम विभाग—भारतवर्ष में सीधे सादे श्रम विभाग की प्रथा बहुत समय से है। स्त्रियों का, घर का काम करना, और पुरुषों का, बाहर जाकर आजीविका प्राप्त करना एक प्रकार का श्रम-विभाग ही है। कौटल्य ने आवश्यकतानुसार स्त्रियों की आजीविका-प्राप्ति की भी व्यवस्था की है, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। भारतवर्ष की वर्णाश्रम व्यवस्था श्रम-विभाग का ही एक स्थूल रूप है। आचार्य इसे उपयोगी मानता है, और कहता है कि इसके भंग करने से समाज छिन्न-भिन्न हो जाता है।

साधारणतया ब्राह्मणों का कार्य शिक्षा प्रचार, क्षत्रियों का देश रक्षा, और वैश्यों का कृषि, पशु-पालन और व्यापार, एवं शूद्रों का सेवा करना माना जाता है। परन्तु आचार्य अंतिम दो वर्णों से युद्ध-कार्य भी लेने के पक्ष में है। उसका मत है कि साधारणतया ब्राह्मण अच्छे योद्धा नहीं होते, क्योंकि शत्रु सिर झुकाकर प्रणाम करके तथा खुशामद आदि से उन्हें वश में कर सकता है; यह बात वैश्यों और शूद्रों में नहीं होती वे अच्छे योद्धा हो सकते हैं। युद्ध विद्या सीखे हुए क्षत्री तो सर्वोत्तम योद्धा होते ही हैं। शूद्रों के कर्तव्यों में आचार्य ने द्विजातियों की सेवा के अतिरिक्त, खेती, पशु-पालन, व्यापार, कला कौशल गाना बजाना आदि भी सम्मिलित है किया।*

*इससे प्रतीत होता है कि आचार्य ने जाति-भेद को आजकल की भाँति कठोर रूप में नहीं माना था अथवा, जाति भेद को आधुनिक स्वरूप कौटल्य के बाद प्राप्त हुआ है।

पूरी व्यवस्था कर दे। स्त्रियों को सन्यास लेने की प्रेरणा करनेवालों का दंड दिया जाय।*

अस्तु, प्राचीन भारत में श्रम विभाग स्थूल रूप में प्रचलित था। आचार्य कौटल्य ने इसी का समर्थन किया है। परन्तु आजकल इसके बहुत सूक्ष्म भेद कर दिये गये हैं। उदाहरण के लिए आधुनिक कारखानों में कपास को श्रोटकर बिनौले अलग करने, रुई धुनने, सूत, कातने, कपड़ा बुनने आदि के अनेक प्रकार के भिन्न भिन्न काम करने वाले श्रमी रहते हैं। इस विकसित श्रम विभाग के सहारे ही आजकल बड़ी मात्रा में उत्पत्ति होती है। इस पद्धति में श्रमियों का कष्ट दूर करने और उनका समय बचाने की बड़ी क्षमता है परन्तु इससे होनेवाली धन-वितरण की असमानता के कारण आजकल पूँजीपति और मजदूरों के बड़े कलह और झगड़े होते हैं। इस विषय में विशेष विचार धन वितरण के प्रसंग में किया जायगा।

स्त्रियों का श्रम—आचार्य ने स्त्रियों के श्रम पर भी यथेष्ट विचार किया है। उसने बतलाया है कि स्त्रियों से उनकी सुविधानुसार रुई, ऊन या रेशम का सूत कतवाया जाय, या जंगलों में काम कराया जाय। वह दासी, नटी, या कुमार्ग में प्रवृत्त स्त्रियों को ललित कलाओं

*ऐसा मान पड़ता है कि उस समय वानप्रस्थ संन्यास आश्रम की गिरी हुई दशा के सुधार में कौटल्य को विशेष सफलता नहीं मिली। हम देखते हैं कि अशोक के समय में भी यह प्रश्न इतना आवश्यक बना हुआ था कि उसने अपने आदेशों में स्थान-स्थान पर दूसरे मतों के साथ पार्वतिनी और संन्यासिनी के सुधार पर बहुत जोर दिया है।

और गाते फिरा करते थे। ये गृहस्थियों के घरों में जाते अपने चित्र सम्बन्धी गायन गाते और दर्शकों को चित्र दिखा-दिखाकर उनका वर्णन सुनाते थे। बच्चों और स्त्रियों को बहलाने तथा बहकानेवाले ये भिक्षुक 'कौशिक' और 'आदिति' कहलाते थे। ये बौद्ध जैन और ब्राह्मण आदि होते थे। कौटल्य का मत है कि इन पर तगड़ी की जाय और इन्हें शारीरिक दंड भी दिया जाय जिससे ये बिना जरूरत भिक्षा-वृत्ति न करें।

आचार्य जलकारी और सराय-अपेक्षा आदिमयों से भी उपयोगी श्रम लेने के पक्ष में था।

बेगार—जान पड़ता है कि कौटल्य के समय में बेगार की प्रथा उस रूप में प्रचलित नहीं थी, जैसी आजकल समझी जाती है तथा कुछ भागों में अब जारी है। आचार्य ने लिखा है कि सरकारी कर न दे सकनेवाले कुछ मजदूरों से इतना काम करा लिया जाय, जिससे उनका कर चुक सके।* इस प्रकार यह श्रम सरकार ही करा सकती थी, और वह भी सब प्रकार के मजदूरों से नहीं। इस श्रम में झाड़ू लगाना, पहरेदारी, तोलना, बोझ उठाना, नापना, पल्लेदारी आदि छोटी-छोटी सेवाएँ ही ली जाती थीं। कर के रूप में तैयार वस्तुएँ लेने की प्रथा उस समय प्रचलित नहीं जान पड़ती। राजा या जमींदार आदि अपने निजी कार्य के लिये ऐसा श्रम कराते हों, इसका भी कोई उल्लेख अर्थशास्त्र में नहीं पाया जाता।

---

*इस दशा में भी मजदूरों को पर्याप्त भोजन और कुछ नकद वेतन मिलता था।

वाले और खरीद के दस्तावेज पर साक्षी देनेवाले को भी दंड दिया जाय। इससे स्पष्ट है कि आज की प्रतिज्ञा-बद्ध कुली-प्रथा के सामने चन्द्रगुप्त की प्रजा के दास आचार्य की कृपा के कारण कहीं अधिक स्वतंत्र थे।

बालिग आदमियों की किसी कारण से स्वेच्छापूर्वक स्वीकार की हुई दासता को रोकना कठिन था। परन्तु आचार्य ने उनके भी अधिकार इतने अधिक कर दिये कि उनकी मुक्ति का रास्ता खुल गया वे कुछ दशाओं में स्वतंत्र से ही हो गये।*

स्वदेशी विदेशी श्रम—यद्यपि कौटल्य के समय में कुछ विदेशी यहाँ बसे हुये थे, ऐसा अनुमान है कि उनकी संख्या बहुत परिमित थी तथा उनकी परिस्थिति व्यापारियों तथा राजकर्मचारियों से भिन्न नहीं थी अर्थात् उसमें किसान मजदूर या कारीगर आदि कम ही थे। उन्हें अपने जीवन की सब आवश्यकताएँ यहाँ से ही पूरी करनी पड़ती थी।

---

*उदाहरण के लिए उसने यह व्यवस्था की कि यदि कोई दास अपने स्वामी को अपना मूल्य देकर या दिलाकर स्वतंत्र होना चाहे तो मालिक को उसे स्वतंत्र करना पड़े। यदि किसी दासी के, उसके स्वामी से, संतान हो जाय या वह उससे मुर्दा या मल-मूत्र उठवाए, या झूठा खिलाये, मारे-पीटे, अथवा उसका सतीत्व हरण करे तो वह दासी स्वतंत्र हो जाय। चोर अपराधी अपने अपराध के बदले में जुमाना देने पर स्वतंत्र समझे जायँ। अपने आपको भूल से बेचनेवाला मनुष्य कभी दास न माना जाय। दास अपनी स्वतंत्र पूँजी जमा कर सके जो सामान्य कानून अनुसार उसके वारिसों को मिले।

अर्थशास्त्र में ऐसे किसी संघ का उल्लेख नहीं पाया जाता, जो विदेशियों ने यहाँ स्थापित किया हो। कौटिल्य ने राजकर्मचारियों की नियुक्ति के विषय में यह सूचना दी है कि वे स्वदेशवासी ही होने चाहिएँ। इस से विदित होता है कि वह आमतौर से सब प्रकार के और खासकर ऊँचे दर्जे के श्रम के लिए स्वदेशी श्रमजीवियों को ही प्रोत्साहन देने के पक्ष में था।

—:•:—

ग्यारहवां अध्याय

पूँजी

साधन-धन—धन की परिभाषा पहले की जा चुकी है। वही मनुष्य द्वारा उपार्जित वह धन है, जो और अधिक धन पैदा या तैयार करने में लगाया जाय। भिन्न भिन्न उत्पादकों की पूँजी अलग अलग तरह की होती है, किसान की पूँजी उसका हल बैल, तथा खेती के अन्य साधन बीज आदि हैं, यद्यपि इसी मनुष्य के बैल केवल उसकी सवारी गाड़ी में काम में आने से उसके उपभोग की ही वस्तु हो जाते हैं। कारीगरों की पूँजी में उनके औज़ार आदि गिने जाते हैं। भिन्न भिन्न प्रकार के श्रमजीवी, अपने काम के दिनों में भोजन वस्त्र आदि जिन वस्तुओं का उपयोग करते हैं वह सब भी उनकी पूँजी में गिनी जाती है।

वस्तु पूँजी की वृद्धि और रक्षा—कौटिल्य ने [illegible]

गाय, बैल, भैंस, ऊंट, खच्चर, भेड़, बकरी आदि पशुओं की रक्षा करने, उनकी गणना करने, उनकी नस्ल को कायम रखने और उन्हें अधिक बलवान और उपयोगी बनाने के लिए कई अध्यक्षों की योजना की है। वह जवान बैलों या भैंसों आदि को लड़ाने या लड़ाई में मरवाने के बहुत विरुद्ध था। उसने लिखा है कि जानवरों पर निशान लगवा कर उन्हें रजिस्टर में लिखाने का प्रबन्ध किया जाय। पालतू पशुओं को व्याध, शिकारी, चोर, साँप तथा हिंसक जन्तुओं से सुरक्षित जंगलों में चरने के लिए भेजा जाय। उनके गले में घंटी बाँधी जाय, जिससे हिंसक पशुओं से उनकी रक्षा होने में सुविधा हो। उन्हें खूब साफ और यथासम्भव सजाकर रखा जाय। निश्शुल्क चरागाहों आदि के लिए ग्राम पंचायत या राज्य की ओर से समुचित व्यवस्था रहे।* जानवरों को पुष्ट रखने के लिए घास, भूसा, खल, नमक, तेल, दाना, दूध, और अदरक आदि की व्यवस्था की जाय। इस प्रसंग में आचार्य ने कुछ पशुओं को छोरवा तक देने की सिफारिश की है। उसका आदेश है कि राज्य की ओर से गाँवों में उत्तम साँड छोड़े जायँ, जो खेत आदि का नुकसान करने पर भी पकड़े न जायँ। स्मरण रहे कि खेतों की हानि होने से अंशतः राज्य की भी हानि होती थी, क्योंकि राज्य को उपज का भाग मिलता था। परन्तु कौटल्य पशुओं की उन्नति की व्यवस्था करने में इस हानि को भी सहन करता है।

---

*आजकल चरागाहों की समुचित व्यवस्था न रहने से पशु पालन बहुत कठिन तथा व्यय-साध्य हो गया है।

ढोने के लिए मोटर और रेल जो काम कर रही है, वह भी उस समय बैल ही करते थे। इस प्रकार अच्छे बैलों की आवश्यकता उस समय कहीं अधिक थी। और, दूध दही आदि के अतिरिक्त, बैलों के लिए गोपालन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। यद्यपि इस समय भी गौओं के प्रति अनेक भारतीयों की भक्ति भावना बनी हुई है, पर व्यवहार में पहले के समान गोवंश की वृद्धि या रक्षा नहीं होती।

हाथियों की ओर उस समय विशेष ध्यान दिये जाने का कारण, उनका सेना में काम आना था। आजकल हाथियों का सेना में प्रायः कुछ भी उपयोग नहीं होता, उस समय चतुरंगिनी सेना के एक खास अङ्ग होते थे।

कुएँ तालाब नहर आदि—कृषि की सिंचाई के कृत्रिम साधनों में कुएँ, तालाब, नहर, बाँध आदि मुख्य हैं। ये राष्ट्रीय पूँजी के अङ्ग हैं, अधिकांश कुएँ तथा कुछ तालाब तो प्रायः निजी पूँजी भी होते हैं। अब हम इनके सम्बन्ध में कौटल्य के विचार बतलाते हैं।

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय सिंचाई चार प्रकार से होती थी (१) हाथ के द्वारा, तालाब आदि से पानी ढोकर, या मशक अथवा टैकली आदि से, (२) कन्धों से पानी देकर,* (३) स्रोतो

*अर्थशास्त्र का मूल पाठ है 'स्कन्ध प्रावर्तिमम्'। कुछ लेखकों ने इसका अर्थ 'कन्धों पर ढोकर बंहगी द्वारा पानी देना' किया है। परन्तु हमें इसका अर्थ 'रहट, चरस आदि द्वारा अर्थात् बैलों के कंधों की सहायता से पानी निकालना और उससे 'सिंचाई करना' अधिक युक्ति-युक्त और देशकालानुसार मान पड़ता है जैसा कि श्री० सत्यकेतु जी ने किया है।

थो चार वर्ष, और यदि बने हुए के ऊपर और बनवाये तो तीन वर्ष तक उक्त प्रकार का कर न लिया जाय।

पूँजी सम्बन्धी अन्य विचार—कौटल्य कुछ नियमों के साथ खान खोदने का अधिकार प्रजा का भी दिये जाने की व्यवस्था करके सर्वसाधारण की पूँजी बढ़ाने में सहायता करता है। उसने सहकारी समितियों के संचालन सम्बन्धी नियमों की रचना की है, तथा नहर, पुल, सड़क, बन्दरगाह आदि व्यापार और उपज की सहायक बातों पर यथेष्ट ध्यान दिया है। और, ऐसा करते हुए उसने राज्य की समृद्धि के साथ प्रजा की पूँजी की वृद्धि का यथेष्ट विचार रखा है। पूँजी के विनाश का एक प्रधान कारण बेकारी होती है कौटल्य ने यह शिक्षा, राजकीय कारखानों और औद्योगिक धन्धों की उन्नति करके, तथा आलसियों, भीखमङ्गों या मुफ्तखोरों को दंडनीय ठहरा कर इसका समुचित नियंत्रण किया है।

स्थिर पूँजी और बेकारी—क्या कौटल्य ने मशीनरी अर्थात् स्थिर पूँजी के विषय में भी कुछ विचार किया है? आजकल औद्योगिक संसार में स्थिर पूँजी की वृद्धि की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। पूँजी के उस अंश में किफायत करने के लिए, जो मज़दूरों को वेतन में दी जाती है, इस बात के नये-नये प्रयोग किये जा रहे हैं कि जो काम मजदूरों द्वारा होता है, उसे मशीनों द्वारा कराया जाय। इसी प्रकार जिस काम के लिए सौ आदमियों की ज़रूरत होती है, उसे केवल बीस, अथवा इससे भी कम कर सकें, इसके वास्ते तरह-तरह के आविष्कार किये जाते हैं। नित्य नयी मशीनें तथा कल

पुर्जे इस बात को लक्ष्य में रखकर बनाये जाते हैं कि काम कम समय में, और कम आदमियों के श्रम से हो सके। इसका परिणाम यह है, कि संसार के बहुत से देशों में कितनी ही चीजें इतनी मात्रा में तैयार हो जाती हैं कि उनकी उन देशों में खपत नहीं होती इसलिए बाहरी अन्य बाजार तलाश किया जाता है, और ऐसा करने से औद्योगिक देशों का आपस में खूब संघर्ष होता है। बहुतों का माल, गोदामों में आवश्यकता से अधिक पड़ा रहकर खराब होता है। जिससे ही कारखानेवाले हारकर पहले कुछ थोड़े समय के लिए और आखिर में अनिश्चित समय के लिए, कारखाना बन्द कर देने को मजबूर हो जाते हैं। इससे एक-एक देश में हजारों ही नहीं, कई लाख मजदूर बेकार हो जाते हैं। कौटिल्य के समय में यह बेकारी बढ़ानेवाला पूँजीवाद नहीं था, और न आचार्य ने इस हालत में इसे प्रोत्साहन ही दिया है।

पूँजी की वृद्धि और रक्षा-रक्षण—कौटिल्य ने पूँजी की वृद्धि का यथेष्ट विवेचन किया है। इसके लिए उसने प्रजा को दुःखी और असंतुष्ट रखने के विषय में भी अच्छी तरह विचार किया है। वह ऐसी राज्य की कठोर नीति या कर्मचारियों द्वारा अत्याचार होने देना नहीं चाहता। इसलिये वह अर्थशास्त्र में स्थान-स्थान पर कहता है कि राजा प्रजा का पुत्र की तरह पालन करे।

यह तो हुई भीतरी शान्ति की बात। बाहर से इस देश को भारी आक्रमण के भय से मुक्त रखने के लिए, सैनिक शिक्षा को अनिवार्य

किये बिना ही, प्राचीन वर्ण धर्म की व्यवस्था से लाभ उठाकर, एवं उसमें कुछ सुधार करके देश-रक्षा के यथेष्ट साधन कर लेता है। इस प्रकार देश की भीतरी तथा बाहरी शान्ति और रक्षा की व्यवस्था करते हुए, आचार्य ने राष्ट्रीय पूँजी की रक्षा और वृद्धि का समुचित विचार किया है।

विदेशी पूँजी—अपनी पूँजी काफ़ी न होने की दशा में विदेशी पूँजी से भी धनोत्पादन करना लाभकारी होता है, परन्तु यह तभी उचित है, जब विदेशी पूँजी के कारण देश में विदेशियों का प्रभाव विशेष न होने पावे। इसीलिए यद्यपि कौटल्य को, राज्य का प्रजा के व्यापार आदि में बाधक होना पसन्द नहीं था, तथापि वह देश में विदेशी पूँजी लगाये जाने की अपेक्षा विदेशी वस्तुओं का बाहर से मँगाकर बेचने के काम को अधिक प्रोत्साहन देने के पक्ष में था*। अर्थशास्त्र में कम्बोज (काबुल) के लोगों के व्यापार-संघों का उल्लेख है, किन्तु ऐसा संघ विदेशी पूँजी से चलनेवाला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह स्थान राजनैतिक दृष्टि से उस समय भारतवर्ष का ही अङ्ग था।

---

*भारतवर्ष को उस समय विदेशी पूँजी की आवश्यकता भी नहीं थी, वह यथेष्ट सम्पन्न था। विदेशियों को यहाँ आकर अपनी पूँजी के बल पर भारतवासियों से प्रतिद्वन्द्विता करने का साहस नहीं होता था।

—:•:—

संघों का उल्लेख किया है। उसने इन संस्थाओं के गुण-दोषों का विचार किया है और इनके मुकदमों का फैसला करने के नियम बताये हैं। अर्थशास्त्र में कई प्रकार के व्यवसायी संघों या श्रेणियों का उल्लेख किया गया है*। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन श्रेणियों के भेद किस दृष्टि से किये गये थे। सम्भव है कि एक श्रेणी, कई-कई प्रकार के काम करती हो, और उन कामों की संख्या के अनुसार उनके नाम एकश्रेणी, द्विश्रेणी, चतुर्श्रेणी अष्टश्रेणी, द्वादश श्रेणी, षोडशश्रेणी आदि प्रसिद्ध हुए हों। यह अनुमान होता है कि आजकल भिन्न भिन्न पेशा करनेवाले समूहों के जो चौधरी होते हैं, वे प्राचीन संघों के अधिपतियों के अवशेष रूप हैं। अस्तु, यह निर्विवाद है कि पहले इन श्रेणियों का आधार केवल आर्थिक या सामाजिक ही थे इनमें कोई पृथक्ता नहीं थी। कौटल्य ने इनके तीन भेद किये हैं, कर्षक (किसान), वैदेहक (व्यापारी), और याजक (पुरोहित, वैद्य आदि)। विविध कारीगरों, कर्मकरों और महाजनों का समावेश इन्हीं में समझा गया होगा।

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उक्त संस्थाएँ अपने निजी झगड़े स्वयं ही निपटा लिया करती थीं। इनकी शक्ति पर्याप्त होती थी। किसी व्यक्ति को अपना काम कराने के लिए संघ के मुखिया से बातचीत करनी पड़ती थी। इस प्रकार श्रमी और व्यवसायी लोग राज्य के

*कौटल्य ने श्रेणी शब्द का प्रयोग सैनिक अर्थ में (कौ० अ० ७। १४), तथा विविध राजनैतिक संघों के अर्थ में (कौ० अ० ११।१) भी किया है।

प्रत्यक्ष निरीक्षण से पृथक्-पृथक् मुक्त रहते थे। जो व्यक्ति पूँजी नहीं लगा सकते थे, वे अपने श्रम को सम्पत्ति की तरह गिना कर संघ के सदस्य बन सकते थे। बीमारी आदि आपत्ति के समय में संघ अपने सदस्यों की रक्षा करते थे।

राज्य के कारखाने—कौटल्य राजा का व्यावसायिक क्षेत्र का रूप भी प्रदान करता है। उसका मत है कि राजा अपनी पूँजी लगाकर तरह-तरह के कारखाने खोले, जिसमें देश के कारीगरों और मजदूरों के श्रम का यथेष्ट उपयोग हो। इन कारखानों की व्यवस्था के नियम उसने इस दृष्टि से बनाये हैं कि उनकी प्रजा के कारखानों से प्रतिद्वन्द्विता होने पर प्रजा की हानि की सम्भावना न हो। दोनों प्रकार के कारखानों को स्वतंत्र मजदूरी पर श्रम करने का अधिकार हो। दोनों ही अच्छा माल तैयार करके एक निश्चित मुनाफे पर बाजार में बेच सकें। दोनों समान रूप से राजकीय नियमों का पालन करें और राजकर दें। कोई, प्रतिष्ठान नौकरों के द्वारा, अथवा बेगार से, श्रम न लेवें। दोनों में से किसी का माल चोर आदि के द्वारा नष्ट होने की दशा में सम्बन्धित अधिकारी उसका मूल्य दिलावे। दोनों में अपाहिजों अथवा भीख माँगने वाले व्यक्तियों को काम सौंपने की व्यवस्था रहे।

ऐसे कारखानों से देश को निम्नलिखित लाभ होते हैं :—

(क) राष्ट्रीय पूँजी और उत्पादन-शक्ति व्यर्थ नहीं पड़ी रहती।

(ख) खरीदनेवालों को उचित मूल्य पर अच्छा माल मिल सकता है, उन्हें माल की परीक्षा करने और मूल्य ठहराने व मोलभाव में पड़ने की जरूरत नहीं होती।

(ग) देश की अधिकांश आवश्यकतायें पूरी हो जाती हैं और अधिक माल तैयार होने की दशा में विदेशों से व्यापार बढ़ने का अवसर मिलता है।

यह पद्धति सर्वांश में लाभप्रद ही हो या इसका दुरुपयोग न हो सकता हो, यह बात नहीं है। स्वभावतः ही साधारण व्यवसायी और धन्धे, राज्य द्वारा संचालित कारखानों का मुकाबला नहीं कर सकते। राज्य द्वारा बनी वस्तुओं की खपत के वास्ते, प्रधान अवसर, राज्य की आवश्यकताओं के रूप में उपस्थित रहता है। तथापि प्रजाहितैषी राज्य में, सब बातों का विचार करने पर आचार्य की व्यवस्था लाभकारी ही प्रतीत होती है।

श्रमियों और पूँजीपतियों का आपसी सम्बन्ध—कौटल्य ने श्रमियों और पूँजीपतियों का पारस्परिक सम्बन्ध अच्छा बनाये रखने के लिए न्याययुक्त और सुन्दर नियम दिये हैं। वह दोनों को अपनी शर्तें खुले आम तय करने की सलाह देता है परन्तु उसका मत है कि उनके मामले पञ्चों द्वारा तय किये जायँ। श्रमियों के समय पर काम पूरा न करने की दशा में, वह उन्हें मोहलत देने की भी योजना करता है, बीमारी आदि की दशा में यह आवश्यक नहीं है कि इकरारनामे की शर्तें पूरी की जायँ। श्रमी संघ का कोई सदस्य यदि संस्था नियम भङ्ग करे तो उसे निर्धारित दंड से आधा दंड दिया जाय।

आचार्य ने ऐसे नियम दिये हैं जिनसे ग्राम जीवन में सहकारिता का भाव बढ़े, और इस विषय में उदासीन रहनेवालों को दंड मिले।

भिन्न प्रकार के धान, तिल, काँगनी आदि वे पदार्थ जो वर्षा के आरम्भ में बोये जाते हैं। (ख) मूँग, उड़द, सेम आदि वे अन्न जो फली में से निकलते हैं और वर्षा के बीच में बोये जाते हैं। (ग) कुसुम, मसूर, कुलथी, जौ, गेहूँ, मटर, अलसी, और सरसों आदि वे चीजें जो वर्षा के अन्त में बोयी जाती हैं।

फलाम्ल वर्ग—इमली, अम्लवेद, करौंदा, आम, अनार, लट्टा नीम्बू, चकोतरा, पेयस्त्री बेर, झाड़ी का बेर, उभाव, फालसा आदि।

कटुक वर्ग—पीपल, मिर्च, अदरक, जीरा, चिरायता, सरसों, धनिया, मेनफल, मकड़ा, सेंधना आदि।

शाक वर्ग—कन्द (शकरकन्द, जमीकन्द, आदि), मूल (मूली गाजर आदि), पत्ता, शाक (बथुआ, मेथी आदि)।

कौटल्य का कथन है कि नदी आदि के किनारे का स्थान पेठा, कद्दू, ककड़ी, तरबूज आदि बोने के लिए उपयुक्त होता है। पीपल, खजूर ईख आदि बोने के लिए वह प्रदेश अच्छा होता है जहाँ पर नदी का जल एक बार हो गया हो। शाक, मूल आदि बोने के लिए कुएँ से सींची जानेवाली भूमि, और आदि हरी चीजें बोने के लिए झील तालाब आदि के किनारे के गीले स्थान, गन्ध (गुलाबी चमेली) भैषज्य (औषधि, धनियाँ, सौंफ आदि) उशीर (खस) और पिंडालुक (कचालू या शकरकन्द आदि) के बोने के लिए वे खेत जिनके बीच में तालाब बने हो उपयुक्त होते हैं। यद्यपि यह सूची पूरी नहीं है, संक्षेप से काम लिया गया है, परन्तु इससे उन पदार्थों का अच्छा अनुमान हो सकता है, जो उस समय खेती करके पैदा किये जाते थे।

तरह हल चलाया जाना चाहिए। उसमें क्यारियों में कर देनी चाहिए। भूमि से पूरा लाभ उठाने के लिए आचार्य ने कितनी ही बातों का ज्ञान आवश्यक बतलाया है जैसे कृषि शास्त्र, भू-माप विद्या, धातु-विज्ञान, वृक्षायुर्वेद (पेड़ों की बीमारियों की पहचान और इलाज), वैज्ञानिक खाद से उपज बढ़ाना, बीज की छाँट और उसे अन्य वस्तुओं से संस्कृत करके अधिक उपजाऊ बनाना (उदाहरणार्थ ईख के बीज को कटी हुई जगह में घी या शहद के साथ गोबर मिलाकर लगाना) इत्यादि। आचार्य ने यह सम्मति दी है कि जो खेती करनेवाले इन विद्याओं को न जानते हों, वे इन विषयों के विशेषज्ञों से सलाह लें।

आचार्य ने उन बातों पर भी खुलासा विचार किया है, जो मनुष्यों के अधीन नहीं हैं, परन्तु जिनके अनुभव से कुछ लाभ उठाया जा सकता है; जैसे ऋतुओं के मार्गों की जानकारी, वर्षा होने के समय का अनुमान, वर्षा के परिमाण का अनुमान, फसल को अग्नि के कोप से बचाना, उसकी बीमारी तथा चूहे, साँप, टीड़ी, तोते, कीड़ी आदि से रक्षा करना, फसलों का क्रम निश्चय करके उपज बढ़ाना आदि।

कौटिल्य ने स्वभावतः उन फसलों के बोने पर जोर दिया है जो थोड़े परिश्रम से अधिक फल देती हैं। इस दृष्टि से वह लिखता है कि धान गेहूँ आदि सर्वोत्तम फसलें हैं, शाक तरकारी मध्यम हैं। आचार्य के मत से ईख सबसे थोड़ी फसल है, इसके बोने और काटने आदि में बहुत श्रम और व्यय होता है, तथा इसमें चूहे और कीड़ों से बड़ी हानि की सम्भावना रहती है।

की यह प्रथा सदा दो हजार वर्ष पहले की बात, आजकल के सभ्य देशों के लिए भी शिक्षाप्रद है।

उद्योग-धंधे

उस समय भारत में, खेती की तरह उद्योग धन्धों की भी काफी उन्नति हो चुकी थी। मेगस्थनीज़ लिखता है कि भारतवासी कला कौशल में भी बड़े निपुण पाये जाते हैं और सभ्य भारतीय समाजों में भिन्न-भिन्न प्रकार के बहुतसे व्यवसायों में जीवन बिताया जाता है। यहाँ के मुख्य-मुख्य उद्योग-धन्धों के विषय में कुछ ब्योरेवार बातें आगे बतलायी जाती हैं।

वस्त्र—उद्योग धन्धों में वस्त्र का विषय मुख्य है। सभी आदमियों को कपड़े की ज़रूरत होती है। जिन देशों में काफी वस्त्र नहीं बनता, उन्हें विदेशों से मँगाना पड़ता है, अथवा वहाँ के आदमी आधे नंगे रहकर गुज़र करते हैं। कौटल्य के भारत में ऐसी कोई बात न थी, सब यहाँ वस्त्र अच्छी मात्रा में तैयार होता था। रुई के अतिरिक्त रेशम सन, ऊन, तथा जूट आदि अन्य कई प्रकार के रेशों के वस्त्र बनाये जाते थे। कौटल्य लिखता है कि राज्य की ओर से विधवा, विकलांग, कन्या, संन्यासिन, अपराधिन (किसी अपराध में प्राप्त हुए जुरमाने के दंड को काम करके भुगतानेवाली), वेश्याओं की वृद्धा माता, बूढ़ी राजदासी और देवालयों से छूटी हुई बूढ़ी देवदासियों से उक्त वस्तुओं का सूत कतवाया जाय। सम्भव है, आजकल जो चर्खा प्रचलित है, वही उस समय काम में लाये जाता था। सूत से कपड़ा बुनने का काम जुलाहे अलग अलग भी करते थे,

कौटिल्य ने कपड़ा बुननेवालों के प्रसंग में सूत के कवच और रस्सी बनानेवालों का भी उल्लेख किया है। रस्सियां विशेषतया सूत, सन, बेंत और बांस के रेशों की बनायी जाती थीं। रेशम की भी होती थीं। फर्श या बिछावन भी बनाये जाते थे।

(ख) कपड़ों की धुलाई और रंगाई। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय यह काम भी काफी उन्नत अवस्था में था। उसमें इस बात की व्यवस्था की हुई है कि धोबियों को भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र कितने समय में धोकर दे देने चाहिएँ, और अधिक समय पड़े रखने अथवा फाड़देने, बदलदेने या किराये पर देने अथवा गिरवी रखने की दशा में उन पर कितना जुर्माना किया जाय। धोबी कपड़े धोने के अतिरिक्त, रङ्गने का काम भी किया करते थे। उस समय यहाँ रङ्गायी बढ़िया होने लग गयी थी। रङ्ग यहाँ वनस्पतियों से बनाये जाते थे। यहाँ के रङ्गों की स्थिरता तथा सौन्दर्य ने अच्छी ख्याति प्राप्त की थी। यूनानियों ने यहाँ की रङ्ग की कला का उल्लेख किया है। खेद है कि विदेशी, खासकर जर्मनी के, सस्ते रासायनिक रङ्गों ने उसे नष्टप्राय कर दिया है।

(ग) सिलाई। लोगों के पहनने आदि के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के कपड़ों की सिलाई होती थी। यद्यपि अधोवस्त्र (धोती) और दुकूल (दुपट्टा) आदि बिना सिले कपड़ों का भी समाज में चलन था, अनेक पारसी अच्छी पोशाक पहनते थे। इस दशा में इस व्यवसाय को उन्नत अवस्था में होना ही चाहिए।

खनिज उद्योग—कौटिल्य ने इस विषय का खुलासा

बहुत बढ़ा चढ़ा था।

आभूषण—आचार्य ने अर्थशास्त्र में उस समय के सुनारों की चालाकी की खूब चर्चा की है, और धातुओं को तपाने गलाने, शुद्ध करने, आभूषण बनाने या सुधरवाने की विविध रीतियाँ, तथा हीरा, मणि, मोती, मूँगा आदि रत्नों को आभूषणों में जड़ने के नियम तथा उनके विषय में अन्य बहुत सी आवश्यक बातें बतलायी हैं। इससे मालूम होता है कि आभूषण सम्बन्धी कार्य भी उस समय बहुत होता था।

शराब—आचार्य ने शराब के कई भेद तथा उनके बनाने की विधियाँ बतलायी हैं, और उनके बनाने, बेचने और पीने के सम्बन्ध में कई प्रकार के बन्धन लगाये हैं। इससे विदित होता है कि यह उद्योग यहाँ बहुत उन्नत अवस्था में था, और आचार्य को इस वस्तु के उपभोग को नियंत्रित करने की बहुत आवश्यकता हुई थी।

नौका निर्माण और संचालन—भारतवासियों की प्राचीन नौका-निर्माण तथा नौ-संचालन विद्या अब स्वप्न सी हो गई है। कौटल्य ने अर्थशास्त्र के नौकाध्यक्ष प्रकरण में अनेक प्रकार की छोटी और बड़ी नौकाओं और जहाजों का उल्लेख किया है*। इससे उस समय की इस विषय सम्बन्धी उन्नति का अच्छा प्रमाण मिलता है। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि उस समय नाव और जहाज बनाने तथा चलाने की कला अच्छी विकसित थी।

---

*इनमें से कुछ की चर्चा अन्यत्र 'व्यापार के मार्ग और साधन' अध्याय में की गयी है।

तरह-तरह की चीजें बनती थीं। इस प्रकार यह उद्योग भी उन्नत अवस्था में था।

बर्तन बनाने का काम—अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि धातुओं और मिट्टी के बर्तनों के अतिरिक्त यहाँ विदलमय (दो दलवाली लकड़ी के) पात्र भी होते थे, जो बेंत या बाँस आदि की लकड़ियों से बनाये जाते थे, जैसे पिटारी टोकरी आदि।

जङ्गल सम्बन्धी उद्योग—कौटिल्य के समय में जङ्गल की रक्षा और उन्नति की ओर बहुत ध्यान दिया जाता था। जङ्गलों की पैदावार पहले (भूमि के अध्याय में) बतायी जा चुकी है। उनकी अनेक चीजें बनायी जाती थीं। इससे स्पष्ट है कि उस समय अनेक आदमी इस उद्योग में लगे रहते थे।

शस्त्र निर्म्माण आदि—कौटिल्य के समय में भारतवर्ष की सैनिक शक्ति बहुत बढ़ी हुई थी, उसके लिए यहाँ तरह-तरह के अनेक शस्त्र तैयार कराये जाते थे। इन्हें बनाने तथा इनकी मरम्मत करने आदि में बहुत से कारीगर लगे रहते थे। इस प्रकार यह उद्योग यहाँ बहुत अच्छी अवस्था में था।

अन्य मुख्य उद्योग धन्धों के विषय में विशेष न लिखकर, यहाँ केवल उनके नाम देकर ही सन्तोष किया जाता है।

(क) लकड़ी चीरना या फाड़ना।

(ख) लकड़ी का सामान बनाना (बढ़ईगीरी)।

(ग) लुहारी (लोहे का साधारण कार्य, शस्त्र निर्म्माण के अति-रिक्त)।

इस प्रकार यद्यपि व्यवहार में चाँदी और ताँबे के सिक्कों से काम चलाया जाता था, किन्तु राजा के पारिख द्वारा सोने के बड़े टुकड़ों पर परीक्षा के चिन्ह लगवाकर उन्हें भी प्रयोग में लाया जाता था। ऐसे टुकड़े 'विशुद्ध हिरण्यक' कहलाते थे।

मुद्रा ढलाई—अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय आदमी अपनी धातु ले जाकर राजकीय टकसाल में सिक्के ढलवा सकते थे। जो आदमी चाहते थे स्वयं भी सिक्के ढाल सकते थे। हाँ, इस दशा में उन्हें कुछ नियमों का पालन करना होता था। जो व्यक्ति अपनी धातु के सिक्के राजकीय टकसाल में ढलवाता था, उसे तीन प्रकार के शुल्क देने होते थे—

१—ढलाई की फीस। इसे कौटल्य ने रूपिक कहा है। यह सौ पण पर आठ पण होती थी।

२—मूल्य स्थिर रखने का नफा नुकसान। इसे व्याजी कहा गया है। यह सौ पण पर पाँच पण होती थी।

३—मुद्रा के सच्चा प्रमाणित करने का शुल्क। इसे पारीक्षिक कहा गया है। यह सौ पण पर अष्टमांश पण होती थी।

इस प्रकार सरकारी टकसाल में मुद्रा-ढलाई सम्बन्धी कुल व्यय १३⅛ प्रतिशत होता था।

यदि कोई व्यक्ति स्वयं कारखाने खोलकर मुद्रा ढालना चाहता तो वह ढाल सकता था। उसे रूपिक नहीं देना पड़ता था। मुद्रा

सकी स्वीकृति मिलने के बाद उसके गुणों अर्थात् घटिया-बढ़िया होने
अनुसार वर्गीकरण किया जाय और कीमत निश्चित की जाय। उसी
मत के अनुसार व्यापार-कर या चुंगी ली जाय। व्यापारी पुरुष
शुल्कशाला के आंगन में उपस्थित हो कर पण्य के परिमाण और कीमत
आवाज लगावे, "इस माल का इतना परिमाण और कीमत है,
का कोई खरीदने वाला है?" इस प्रकार उसके तीन बार आवाज
पर जो व्यक्ति खरीदना चाहे, उसे उतनी ही कीमत पर माल
ता दिया जाय।

यही नहीं, आचार्य का यह भी कथन है कि 'यदि खरीदनेवालों
आपस में संघर्ष हो जाय (अर्थात् खरीदार एक-दूसरे से बढ़कर
माल की कीमत लगाते जायँ) तो उस माल की घोषित कीमत
जितनी अधिक आमदनी हो, वह शुल्क सहित राजकोष में भेज दी
।' इस नियम के होते हुए व्यापारी को अपना माल अधिक कीमत
चने से कोई लाभ नहीं रहता, इसलिए वह ऐसा करने के लिए
न भी नहीं करता।

माँग और पूर्ति—इस प्रकार आचार्य ने कीमत निर्धारित करने
ऐसे उपाय बतलाये हैं, जो स्वाभाविक रूप से स्वयं व्यवहार में
आवें। आमतौर पर किसी वस्तु की कीमत माँग और पूर्ति के
म से निश्चित हुआ करती है। ऊपर के उदाहरण में आचार्य केवल
र के प्रभाव को स्वीकार करता है। 'पण्याध्यक्ष' प्रकरण में उसने
ा है कि "बहुत से स्थानों से, अर्थात् बहुत से व्यक्तियों के द्वारा,
आनेवाले राजपण्य को, व्यापारी लोग कीमत निश्चय करके बेचें

नकी स्वीकृति मिलने के बाद उसके गुणों अर्थात् बढ़िया-घटिया होने के अनुसार वर्गीकरण किया जाय और कीमत निश्चित की जाय। उसी कीमत के अनुसार व्यापार-कर या चुंगी ली जाय। व्यापारी पुरुष टकसाला के आंगन में उपस्थित हो कर पण्य के परिमाण और कीमत की आवाज लगावे, "इस माल का इतना परिमाण और कीमत है, क्या कोई खरीदने वाला है!" इस प्रकार उसके तीन बार आवाज देने पर जो व्यक्ति खरीदना चाहे, उसे उतनी ही कीमत पर माल दिया दिया जाय।

यही नहीं, आचार्य का यह भी कथन है कि 'यदि खरीदनेवालों में परस्पर में संघर्ष हो जाय (अर्थात् खरीदार एक-दूसरे से बढ़कर माल की कीमत लगाते जायें) तो उस माल की घोषित कीमत से जितनी अधिक आमदनी हो, वह शुल्क सहित राजकोष में भेज दी जाय।' इस नियम के होते हुए व्यापारी को अपना माल अधिक कीमत पर बेचने से कोई लाभ नहीं रहता, इसलिए वह ऐसा करने के लिए यत्न भी नहीं करता।

माँग और पूर्ति—इस प्रकार आचार्य ने कीमत निर्धारित करने के ऐसे उपाय बतलाये हैं, जो स्वाभाविक रूप से स्वयं व्यवहार में आ जाते। आमतौर पर किसी वस्तु की कीमत माँग और पूर्ति के नियम से निश्चित हुआ करती है। ऊपर के उद्धरण में आचार्य केवल माँग के प्रभाव को स्वीकार करता है। 'पण्याध्यक्ष' प्रकरण में उसने कहा है कि "बहुतसे स्थानों से, अर्थात् बहुत से व्यक्तियों के द्वारा, आनेवाले राजपण्य को, व्यापारी लोग कीमत निश्चय करके बेचें

रेक सके कि उसे अधिक से अधिक लाभ हो। इस सीमा के बाद वस्तु की कीमत बढ़ाने से बिक्री कम हो जाती है और उतना लाभ नहीं होता।

अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि विदेशी वस्तुओं के बेचने की व्यवस्था भिन्न-भिन्न स्थानों से होती थी, उसमें एकाधिकार करने की सम्भावना भी नहीं थी; इसलिए एकाधिकार कर सकनेवाली बात नहीं थी। स्वदेशी वस्तुओं के सम्बन्ध में तो यह प्रश्न ही नहीं उठता था।

विशेष वक्तव्य—इस अध्याय में एक बात पर और विचार कर लें। अर्थशास्त्र के आधार पर आज यह कह सकना नितान्त कठिन है कि कौटिल्य के समय में एक गाय कितने पण में आती थी, अथवा एक मन अन्न की कीमत क्या थी। तथापि आचार्य के विवेचन से वस्तुओं के पारस्परिक मूल्य जानने के लिए कुछ सुविधाएँ मिलती हैं। उदाहरणस्वरूप एक रजत पण (ग्यारह माशे चाँदी और एक माशा ताम्बा) का मूल्य सोलह ताम्र पण (१६१ माशे ताम्बा) था। इससे प्रकट हुआ ११ माशे चाँदी के बदले १६१ माशे ताम्बा मिल सकता था, अर्थात् चाँदी और ताम्बे के मूल्य का अनुपात १६१ : ११ था।

—:०:—

सोलहवाँ अध्याय

व्यापार के मार्ग और साधन

—०:—

जल और स्थल-मार्गों की उपयोगिता की तुलना—व्यापार या तो स्थल-मार्ग से होता है या जल-मार्ग से। यद्यपि आजकल कु—

तीनों मार्गों में से आचार्य के विचार से पहला मार्ग अच्छा होता है, क्योंकि ऐसे मार्ग पर व्यापारी नगर तथा बन्दरगाह बहुत होते हैं, और जिससे बहुत लाभ उठाया जा सकता है। आचार्य नदियों और नहरों के मार्गों को इसलिए उत्तम बतलाता है कि नदियों और नहरों की धारा निरंतर बनी रहती है और इस मार्ग में विशेष बाधायें नहीं आतीं। उसने लिखा है कि भारी-भारी सामान नहर के द्वारा ही ढोये जाने चाहिएँ।

जल-मार्ग से व्यापार करने के साधन,—अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय नावों और जहाजों की बड़ी उन्नति हो चुकी थी। व्यापार सम्बन्धी कुछ मुख्य-मुख्य नाव और जहाज निम्न लिखित थे—

१—संयात्यीनाव—समुद्रों में चलनेवाले बड़े जहाज। जब ये बन्दरगाह पर पहुँचते थे, इनसे शुल्क लिया जाता था।

२—महानाव—बड़ी-बड़ी नदियों में चलनेवाले छोटे जहाज। कौटिल्य ने लिखा है कि पाँच अधिकारियों से युक्त इन जहाजों से ही, गर्मी और सरदी में एक रूप से बहनेवाली गहरी और बहुत बड़ी नदियों में काम लिया जाए।

४—क्षुद्रका—छोटी नौकायें। कौटिल्य का कथन है कि केवल बरसात में बहनेवाली (अर्थात् बरसाती) छोटी-छोटी नदियों के लिए छोटी नावों का प्रबन्ध किया जाय।

५—स्वतरणी—लोगों की अपनी अपनी नावें, जिन पर राजा का कोई नियंत्रण नहीं होता था।

करते हुए लिखा है कि 'यद्यपि प्राचीन आचार्यों का मत है कि दक्षिण की ओर के मार्ग की अपेक्षा उत्तर का अर्थात् हिमालय की तरफ जाने वाला मार्ग श्रेष्ठ है, क्योंकि इस ओर हाथी, घोड़े, गंध द्रव्य, दाँत, चर्म, चाँदी और सोना आदि बहुमूल्य विक्रेय वस्तुएँ बहुतायत से मिलती हैं, परन्तु कौटिल्य इस मत को नहीं मानता, वह दक्षिण की ओर के मार्ग को ही श्रेयस्कर समझता है, कारण कि कम्बल, चर्म, तथा घोड़े आदि इन विक्रेय वस्तुओं को छोड़ कर हाथी आदि सब ही वस्तुएँ तथा शंख, हीरा, मणि, मोती, सुवर्ण आदि अन्य अनेक विक्रेय वस्तुएँ उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में ही अधिक होती हैं। दक्षिणपथ में भी वही वणिक्-पथ उत्तम है जो खानों के पास होकर जाता हो, जिसमें अनेक विक्रेय वस्तुएँ मिलती हों, जिनपर आना-जाना बहुत होता हो, तथा जिसमें श्रम कम हो।' आचार्य का यह मत आजकल भी बहुत मान्य है, प्रायः समुद्र की ओर जानेवाले मार्ग को विशेष महत्व दिया जाता है।

आचार्य ने स्थल-भाग के अन्य व्यापारी मार्गों की उपयोगिता का तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया है। यह लिखता है कि पैदल के मार्ग की अपेक्षा गाड़ी आदि का मार्ग अधिक उत्तम समझना चाहिए, क्योंकि ऐसे मार्गों से बहुत व्यापार किया जा सकता है। देश काल के अनुसार गधे और ऊँट का मार्ग भी श्रेष्ठ समझना चाहिए, क्योंकि इनके द्वारा भी व्यापार अधिक परिमाण में किया जा सकता है। इसी प्रकार कंधों पर (बंहगी से या पैरों द्वारा) भार ढोने आदि के मार्गों के विषय में समझ लेना चाहिए।

ग्राम-पथ (गाँवों को जानेवाला मार्ग), इनमें प्रत्येक की चौड़ाई
आठ गज होती थी।

मार्गों की रक्षा और निर्माण—आचार्य कौटल्य ने इन
था अन्य मार्गों की ओर यथेष्ट ध्यान दिया है। उसने लिखा है कि
गराध्यक्ष, ग्रामाध्यक्ष, और अन्य अधिकारी समय समय पर सड़कों
और पुलों की देख रेख करें। इनको तोड़ने-फोड़नेवालों को दंड
दिया जाय। कौटल्य ने विविध मार्गों के लिए 'वणिक पथ,' शब्द
प्रयोग किया है। इससे विदित होता है कि इन मार्गों के निर्माण का
क प्रधान उद्देश्य व्यापारियों को सुविधा पहुँचाना होता। मार्गों
दोनों तरफ पेड़ लगवाये जाते थे। कुएँ बनवाये जाते थे। रास्तों
नापने और निर्धारित फासले पर दूरी सूचक चिन्ह लगाने की भी
व्यवस्था थी।

स्थल मार्ग के व्यापार के साधन—मालूम होता है कि स्थल
र्गों से जो व्यापार होता था, उसके वास्ते माल ढोने के लिए ऐसी
ड़ियाँ काम में लायी जाती थीं, जिन्हें घोड़े, खच्चर, गधे तथा
न्य एक खुर के पशु खींचते थे। बैल आदि भी गाड़ियों में जोते
ते थे। अर्थशास्त्र में हाथी और ऊँट का यथेष्ट उल्लेख है। इसके
तिरिक्त बहंगी के द्वारा और सिर पर रखकर भी ढुलाई का काम
या जाता था।

डाक प्रबन्ध—व्यापार में डाक के प्रबन्ध से बड़ी सहायता
मिलती है। आचार्य ने कबूतरों द्वारा संदेश भेजने का उल्लेख किया

सतरहवा अध्याय

देशी व्यापार

प्राक्कथन—पिछले अध्याय में हम कौटलीय अर्थशास्त्र में बतलाये हुए व्यापार के मार्गों और साधनों पर प्रकाश डाल चुके हैं। अब हम प्राचार्य के व्यापार सम्बन्धी विचारों का परिचय देंगे। पहले देशी अर्थात् भीतरी व्यापार का विषय लेते हैं। इस व्यापार से अभिप्राय देश की सीमा के भीतर भिन्न भिन्न गाँवों, नगरों या प्रान्तों के आदमियों में होनेवाला व्यापार है।

कौटल्य के समय में यह व्यापार बहुत होता था। यद्यपि रोजमर्रा काम में आनेवाली चीज़ों के सम्बन्ध में प्राय प्रत्येक ग्राम और नगर स्वावलम्बी होता था, उसे दूसरों के आश्रित नहीं रहना पड़ता था, तथापि भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थान कुछ विशेष पैदावारों, दस्तकारियों उद्योग-धन्धों तथा धातुओं और रत्नों आदि के लिए प्रसिद्ध थे। व्यापारी लोग विविध पदार्थों को देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में ले जाकर बेचते थे। इस प्रकार देश भर में लोगों को कहीं इनका अभाव नहीं रहता था।

व्यापार में राज्य का हस्तक्षेप—कौटल्य की व्यापार-नीति की एक विशेषता यह है कि वह व्यापार में राजकीय हस्तक्षेप के बहुत

निकालकर मुझे तौर से व्यापार के रूप में जुआ न खेल सकें। कौटल्य वास्तविक व्यापार चाहता था, मदनी या सट्टा-फाटका रोकने के लिए उसने उक्त राजाज्ञा का नियम बनाया था।

वस्तुएँ बेचने के स्थान—कौटल्य ने इस बात की ओर पर्याप्त ध्यान दिया है कि नगर में तरह तरह की वस्तुएँ बेचने के स्थान अलग-अलग हों*। प्रत्येक व्यापारी अपना माल उसी स्थान में बेचे, जो राज्य की ओर से उस माल के लिए निश्चित किया गया हो। कारीगर आदि भी अपना माल वहीं लाकर बेचें। इस प्रकार उन्हें अपने घर पर अथवा माल तैयार होने की जगह सौदा करने और ग्राहक को ठगने का अवसर न मिले।

वनों में मिलनेवाले पदार्थ—कुछ जङ्गलों पर राज्य का अधिकार होता था। इनकी देखभाल आदि के लिए जो राजकर्मचारी रहता था, उसे अर्थशास्त्र में 'कुप्याध्यक्ष' लिखा है। आचार्य का कथन है कि यह अधिकारी, जङ्गलों में मिलनेवाले पदार्थ अर्थात् लकड़ी, घास, पशुओं की खाल, दांत, बाल आदि संग्रह करावे और इनसे बनायी जानेवाली अन्य विविध चीज़ बनवाने की व्यवस्था करे। बिना अधिकार जङ्गल से लकड़ी का नेवाओं से जुर्माना और राजकर वसूल किया जाय।

*वह लिखता है कि गंध (सुगन्ध, इतर, फुलेल आदि) माला, अन्न तथा घी तेल आदि की दूकानें पूर्व-दक्षिण में हों। ... ...और पका हुआ अन्न बेचनेवाली दूकान (होटल आदि) तथा शराब और मांस की दूकानें दक्षिण दिशा में हों।' इसी प्रकार उसने दूसरे दूकानदारों के लिए अलग स्थानों की व्यवस्था की है।

शराब—शराब सरकार के व्यापार की वस्तु थी; कोई व्यक्ति इसे बनाकर बेच नहीं सकता था। कौटल्य के नियमों के अनुसार ठेकेदार को भी सरकारी कारखानों में ही बनी हुई शराब (मोल लेकर) बेचने का अधिकार था। हाँ, प्रजा विवाह या त्यौहार आदि के विशेष अवसरों पर अपने काम में लाने के लिए शराब बना सकती थी। यदि ऐसे अवसर पर अपने लिए बनायी हुई शराब को कोई आदमी बेचना चाहता तो उसके लिए आवश्यक था कि पाँच प्रति शतक शुल्क दे।

नमक—नमक के लिए आचार्य ने कम प्रतिबन्ध रखा है। प्रत्येक व्यक्ति नियमानुसार अनुमति लेकर नमक बना सकता और आवश्यक 'भाग' देकर बेच सकता था। वानप्रस्थ अर्थात् वन में रहनेवाले राज्य की अनुमति लिए बिना भी स्वयं नमक को लेकर उसका उपभोग कर सकते थे। श्रोत्रिय (वेदों का अध्ययन करनेवाले), तपस्वी, तथा राजा की इच्छानुसार काम करनेवाले बेगारी पुरुष भी बिना शुल्क के अपने उपभोग मात्र के लिए नमक ले जा सकते थे।*

तोल-माप—व्यापार के लिए वस्तुओं के तोल-माप ठीक होने की बड़ी आवश्यकता होती है। आचार्य ने इस ओर काफी ध्यान दिया

---

*नमक उस समय विदेशों से भी यहाँ आता था। परन्तु कौटल्य ने स्वदेशी नमक के व्यवसाय की विदेशी नमक के व्यवसाय से रक्षा करने की यथेष्ट व्यवस्था की थी। उसने विदेशी नमक पर विशेष कर (षड्भाग) लगाया था।

है। स्पष्ट और ब्यौरेवार नियम लिखकर वह इस बात की व्यवस्था करके गुंजायश, नहीं रहने देता कि व्यापारी लोग ग्राहकों को ठग सकें व धोखा दे सकें। उसने अर्थशास्त्र में सोलह प्रकार की छोटी-बड़ी तराजू और काँटों का, और सोलह प्रकार के बाटों का, निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त, उसने घी, दूध, तेल आदि द्रव्यों और अन्न आदि सूखे पदार्थों के माप के लिए चिह्न लगे हुए पात्रों एवं वस्त्र आदि के माप के लिए गजों के सम्बन्ध में भी यथेष्ट ब्यौरेवार नियम बनाये हैं। उसने लिखा है कि पौतवाध्यक्ष* (तोल माप संशोधन करनेवाला राजकीय अधिकारी) तुला और बाट आदि बनवावे और इन्हें निर्धारित मूल्य पर बेचे। व्यापारियों को चाहिये कि प्रत्येक चार महीने के बाद तुला और बाट आदि का ठीक करावें; ऐसा न करनेवालों का दंड दिया जाय।

राजकीय कारखानों में बने हुए बाट तुला आदि ही प्रामाणिक समझी जाती थी। इन वस्तुओं को बनाने-बेचने का काम एक प्रकार से तत्कालीन राज्य का एकाधिकार व्यापार माना जा सकता है।

सार्वजनिक हित—'अन्न या जनता' शीर्षक (दसवें) अध्याय में हम बता आये हैं कि आचार्य ने इस बात की यथेष्ट व्यवस्था की है कि जीवन-निर्वाह सम्बन्धी पदार्थों में किसी प्रकार की मिलावट न की जाय। इसके अतिरिक्त उसने सोना, चाँदी, हीरा, मुक्ता, रेशमी ऊनी वस्त्र

* अर्थशास्त्र के वर्तमान सभी प्रकाशित संस्करणों में 'पौतव' (और 'पौतवाध्यक्ष') शब्द आया है। शुद्ध शब्द 'पोतव' है जिसका अर्थ मान, तौल, या वज़न आदि है।

आदि वस्तुओं को भी, असली के स्थान में नकली बेचनेवालों का यथेष्ट नियंत्रण किया है। उसने इस बात के लिए समुचित विधान किया है कि व्यापारी अपने माल को जैसा है वैसा ही बतावें, ग्राहकों से अनुचित कीमत लेने के लिए वे घटिया या खराब माल को न छिपावें और न चुंगी के लोभ से बढ़िया माल को गुप्त रखें। सर्वसाधारण के हित का ध्यान रखते हुए वह यह भी लिखता है कि राष्ट्र को पीड़ा पहुँचानेवाले तथा कोई अच्छा फल न देनेवाले माल को राज्य नष्ट करा देवे और जो प्रजा को उपकार करनेवाला तथा अपने देश में कठिनता से मिलनेवाला धान्य आदि या अन्य प्रकार का माल हो उस पर चुंगी न ली जाय, जिससे ऐसा माल अधिक मात्रा में अपने देश के अन्दर आ सके।

अठारहवां अध्याय

विदेशी व्यापार

प्राक्कथन—पिछले अध्याय में कौटल्य के देशी व्यापार सम्बन्धी विचार बतलाये जा चुके हैं। इस अध्याय में उसके विदेशी व्यापार सम्बन्धी विचार पर प्रकाश डाला जाता है। जब किसी देश में आयात निर्यात करने के साधनों की उन्नति होजाती है, और सभ्यता के विकास के कारण वहाँ के आदमी अपनी आवश्यकता से अधिक माल बनाने लगते हैं या उन्हें ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता होने लगती है, जो उनके यहाँ नहीं बनती, तो वे दूसरे देशवालों से व्यापार करने लग जाते

हैं। कभी कभी कोई विदेशी भी अपने देश की वस्तुओं का व्यापार, पराजित देश में बढ़ाने का प्रयत्न करता है।

विदेशी व्यापार सम्बन्धी नीति—कौटल्य अपने नागरिकों को, विदेशों में मिलनेवाली असुविधाओं से, यथासम्भव बचाना ही अच्छा समझता है। उसका मत है कि थोड़े लाभ के लिए, या जिस रास्ते से अधिक तकलीफ होती है उस रास्ते से, व्यापार नहीं करना चाहिए। विदेश में जाने से पहले, माल लेजाने का किराया, मार्ग में खाने पीने और रक्षा का व्यय, अपनी बिक्री के और बदले में लिये जानेवाले माल के मूल्य का सामंजस्य, मौसम, दैवी आपत्तियों की सम्भावना, एवं विदेश के रीति रिवाज और व्यापार तथा महसूल आदि के नियम जान लेना चाहिए। आचार्य का मत है कि यदि वस्तुतः व्यापार अनुकूल जान पड़े तो विदेश में व्यापार करने के लिए जाना उचित है। कौटल्य अपनी प्रजा के विदेशी ऋण सम्बन्धी मुकद्दमे सुनने तथा ऋण वसूल कराने की जिम्मेवारी लेने को तैयार नहीं है। उसकी राय है कि प्रजा को, विदेश में वहाँ के राजनियमों के अनुसार व्यवहार करना चाहिए, तथा वहाँ के सब कर आदि देते रहना चाहिए। अस्तु, यद्यपि कौटल्य विदेशी व्यापार को, लाभजनक होने की दशा में, बुरा नहीं कहता, तथापि वह अपने नागरिकों का विदेश में मिलनेवाली विविध बाधाओं और कठिनाइयों की ओर उदासीन भी रहना नहीं चाहता।

कौटल्य की सम्मति है कि विदेशी व्यापारियों को अपने यहाँ बुलाकर बसाया जाय और व्यापार करने दिया जाय। वह उनके लिए लाभ की दर द्विगुण कर देता है। उदाहरणतः स्वदेशी व्यापारियों को

जिस प्रकार के माल पर पाँच प्रति सैकड़ा लाभ लेने की अनुमति हो, विदेशी व्यापारी उस पर दस प्रति सैकड़ा तक लाभ ले सकें। विदेश से माल मँगाने की दशा में कई शुल्क छोड़े जायँ। विदेश से व्यापार के लिए आये हुए आदमियों पर यदि स्वदेशवासियों का कोई ऋण हो तो उसका निर्णय आदि जहाँ तक बने बिना अदालती कार्रवाई के, निजी-तौर पर कर दिया जाय। विदेशी व्यापारियों के लिए विविध प्रकार की सुविधाओं की व्यवस्था करता हुआ भी आचार्य इस बात का यथेष्ट ध्यान रखता है कि वे प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट या हानि न पहुँचायें।

कौटिल्य की, विदेशी व्यापार सम्बन्धी नीति का विचार करते हुए दो बातें ध्यान में रखी जानी आवश्यक हैं। प्रथम तो यह नमक जैसे उन पदार्थों के व्यापार को उत्तेजना नहीं देता जो यहाँ बनते हों; पर ऐसे पदार्थों को भारी कर लगाकर विदेश से आने से रोकता है। दूसरे, उस समय प्रायः अन्य देश कारीगरी का माल तैयार करने वाले नहीं थे। इसलिए कौटिल्य की नीति देश कालानुसार बहुत हितकर थी।

विदेशों से आनेवाली वस्तुएँ—कौटिल्य के समय में यहाँ विदेशों से आनेवाली वस्तुओं की संख्या बहुत परिमित थी।*

---

*विदेशों से अभिप्राय यहाँ वर्तमान भारत की सीमा से बाहर के समस्त देशों का नहीं है, वरन् केवल उन देशों से है, जो चन्द्रगुप्त के राज्य की सीमा से बाहर के थे। इस सीमा का परिचय 'भूमि' शीर्षक अध्याय में दिया जा चुका है।

मूल्यवान पदार्थों में कई प्रकार के मोती जो ईरान की खाड़ी, कमरीज के किनारे और यूनान सागर से निकाले जाते थे, बाहर से आनेवाली वस्तुएँ थीं। कपूर, दालचीनी आदि मसालों के अतिरिक्त मूँगा भारतीय महासागर के द्वीपों से आता था। चीनी, रेशम विशेषतया ‘भ्रमिवान’ और कच्चा रेशम चीन से आता था। सम्भव है कि हिमालय पार के देशों से कई तरह के चमड़े के वस्त्र और ‘अंगरमूज’ शराब भी आती हो। अर्थशास्त्र से यह अनुमान होता है कि उस समय घोड़े भी अरब और ईरान से आते थे।”

इन वस्तुओं के अतिरिक्त केवल सोना चाँदी को छोड़कर, जो यहाँ से जानेवाले पदार्थों के मूल्य के रूप में रोम, यूनान, चीन और अरब आदि देशों से आते थे, अन्य कोई विदेशी पदार्थ बहुत कीमत का अथवा बड़ी मात्रा में यहाँ उस समय आता मालूम नहीं होता।

भारतवर्ष से बाहर जानेवाली चीजें—प्राचीन और स्वतंत्र भारतवर्ष के विदेशी व्यापार का दृष्टिकोण सदैव यह रहा है कि विदेशों को वे ही चीजें भेजी जायँ, जो अपने यहाँ की माँग से अधिक हों और जीवन के लिए उपयोगी तथा आवश्यक हों। इस प्रकार न तो यहाँ के अन्न, घी इत्यादि पदार्थ भेजे जाते थे, और न अफीम, मद्य आदि मादक द्रव्य ही। केवल ऊनी, सूती, रेशमी आदि विविध प्रकार के बढ़िया वस्त्र, हाथी-दाँत की बनी तलवार की मूठ, कम्प, तलवारें, छड़ी, स्नायु आदि के बने कारीगरी के पदार्थ, तथा तेज मसाले, औषधियाँ, कपूर, लोबान, अगर, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्य

ही भारतीय व्यापारी विदेशों में स्वयं जाकर या विदेशियों को यहाँ बुलाकर बेचते थे।

पहले बतलाया जा चुका है कि कौटल्य, राज्य की ओर से विदेशी व्यापारियों को विविध सुविधायें देने के पक्ष में है। यद्यपि वह प्रत्येक प्रकार की उपयोगी वस्तु स्वदेश में ही पैदा या तैयार कराने का आदेश करता है, उसका आदर्श देश के एकान्त स्वावलम्बी जीवन का नहीं है, वह संसार के भिन्न भिन्न भागों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सम्बन्ध कराने का इच्छुक है।

विदेशी विनिमय—आजकल विदेशी व्यापार के लिए अन्यान्य बातों में विदेशी सिक्कों के विनिमय सम्बन्ध ज्ञान की भी बहुत आवश्यकता होती है। सम्भवतः प्राचीन काल में इस ज्ञान की आवश्यकता विशेष नहीं होती थी क्योंकि उस समय व्यापार प्रायः वस्तुओं के अदल-बदल से हो जाता था। अस्तु, कौटलीय अर्थशास्त्र में विदेशी विनिमय के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख नहीं मिलता। आचार्य ने राजकोष में केवल उन सिक्कों के लिये जाने का आदेश किया है, जो देश के कानून के अनुसार बनाये गये हों; इससे विदेशी सिक्कों के स्वीकार न किये जाने का भाव निकलता है। किन्तु उसने ऐसे सोन या स्वर्ण-मुद्रा के लिये जाने का भी उल्लेख किया है, जिसे लक्षणाध्यक्ष अर्थात् टकसाल के अधिकारी ने जाँच करके शुद्ध ठहराया हो। ऐसे अवसर पर खजानचियों को विदेशी स्वर्ण मुद्राओं का मूल्य, उनकी धातु के भाव के अनुसार निश्चय करना पड़ता होगा।

विशेष वक्तव्य—अर्थशास्त्र में आयात निर्यात के अङ्क दिये हु-न होने से हम तत्कालीन विदेशी व्यापार की आधुनिक व्यापार से तुलना करने में असमर्थ हैं। तथापि यह स्पष्ट है कि इस समय रेल और मोटर आदि के कारण माल लाने-लेजाने की जैसी सुविधाएँ हैं, वे उस समय न होने से तत्कालीन व्यापार का परिमाण अपेक्षा ही बहुत कम होगा। भारी पदार्थ विदेशों का आते या यहाँ से जाते रहते न थे। पहले सूचित किया जा चुका है कि अन्न की यहाँ से निर्यात नहीं होती थी। यह तो सभी मानते हैं कि विलायती वस्त्र तथा चीनी का तैयार माल यहाँ नहीं आता था। भारतवर्ष अपनी साधारण आवश्यकताओं के लिए परावलम्बी नहीं था, और यहाँ के कच्चे माल से विविध वस्तुएँ तैयार करने से अनेक आदमियों का निर्वाह होता था।

कुछ आदमी यह समझते हैं कि यदि प्राचीन काल में भारतवर्ष का विदेशी व्यापार आजकल की अपेक्षा कम था, तो इससे इसकी आर्थिक अवनति साबित है। परन्तु असल में यह बात नहीं है। आयात निर्यात के परिमाण के घटने या बढ़ने मात्र से देश की आर्थिक उन्नति या अवनति सिद्ध नहीं होती। देश की आर्थिक स्थिति का अनुमान करने में यह विचार करना होता है कि आयात निर्यात किन-किन पदार्थों की होती है, और उनका देश-निवासियों पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि विदेशी व्यापार से उस समय की उन्नति का पता लगता है।

उन्नीसवा अध्याय

भू-कर

—:•:—

हम पहले कह चुके हैं कि धनोत्पत्ति में भूमि, श्रम, पूँजी, और व्यवस्था—इन चार साधनों का उपयोग होता है। इसलिए यह आवश्यक ही है कि जो धन पैदा हो, उसमें से प्रत्येक साधन को उसका मुआवजा या प्रतिफल दिया जाय। इस क्रिया को आधुनिक अर्थशास्त्र में धन वितरण कहा जाता है। अब कौटल्य के इस विषय सम्बन्धी विचार दिये जायेंगे। पहले भू-स्वामी को, उसकी भूमि के किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा उपयोग किये जाने की दशा में, मिलने वाले प्रतिफल, अर्थात् लगान सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डाला जाता है।

प्राचीन काल में भू स्वामित्व—लगान भूमि के स्वामित्व पर निर्भर है, अतः यह जान लेना आवश्यक है कि कौटल्य से पूर्व यहाँ भू-स्वामित्व सम्बन्धी विचार क्या था, और कौटल्य के समय में उसमें क्या परिवर्तन हुआ।

कौटल्य के पहले के तथा स्वयं कौटल्य के समय के भू-स्वामित्व सम्बन्धी विचार जानने के लिए यह याद रखना आवश्यक है कि स्वाधीन देश में भूमि पर प्रजा के स्थान पर राजा का अधिकार

हो जाने से वैसा अन्तर कदापि नहीं होता, जैसा पराधीन देश में होता है।*

अस्तु, अति प्राचीन काल में यहाँ ज़मीन आम तौर से राजा की सम्पत्ति नहीं मानी जाती थी, वह सब आदमियों की सम्मिलित सम्पत्ति होती थी। जो आदमी जिस भूमि को परिश्रम करके साफ और उपजाऊ बनाता, उसपर उसीका अधिकार होता था। इस प्रकार कृषक ही भूमि के स्वामी माने जाते थे। हाँ, सरकारी सहायता या रक्षा के उपलक्ष में, फसल तैयार होने पर उपज का कुछ अंश राजा को देने की रीति थी। किन्तु इससे भूमि पर अधिकार राजा का नहीं होता था।

कौटल्य और भू-स्वामित्व—स्थानाभाव से हम इस सम्बन्ध में प्रमाण-स्वरूप महाभारत या मनुस्मृति आदि के अवतरण नहीं दे सकते और कौटल्य के अर्थशास्त्र का ही एक अवतरण देकर संतोष करते हैं। आचार्य ने लिखा है कि "पहले मात्स्यन्याय प्रचलित था। (जैसे बड़ी मछली छोटी को खा जाती है, ऐसे ही बलवान निर्बलों के सारा

---

*जब 'राजा' शब्द 'प्रजा' का पर्यायवाची हो, तो यह कहने में कोई हर्ज नहीं है कि देश की सब भूमि राजा की है। परन्तु जिस दशा में 'राजा' कहने से परदेशी लोगों का एक ऐसा शासक समूह समझा जाय जो भूमिकर की आमदनी में से लगभग एक तिहाई तो अपने नौकरों ही के वेतन में खर्च कर देते हैं, जिनका न तो यहाँ पर स्थायी घर है, और न जिनको देश के हानि-लाभ से कुछ काम है, तो देश की भूमि को राजा की कहना कदापि उपयुक्त नहीं हो सकता।

—महाभारत मीमांसा

अपहरण करते थे), इससे तंग आकर जनता ने वैवस्वत मनु को राजा बनाया। धान्य का छठा हिस्सा तथा व्यापार की आमदनी का दसवाँ हिस्सा सुवर्ण या नकदी में राजा के लिए नियत किया गया। इस भृति (पोषण या वेतन) को पाते हुए राजाओं ने प्रजा के योग-क्षेम का भार अपने ऊपर लिया। इस प्रकार राजा प्रयुक्त किये गये दंड और करों से प्रजा की बुराइयों को नष्ट करते हैं। इसीलिए जंगल में रहनेवाले (ऋषि मुनि जन) भी अपने बीने हुए नाज का छठा हिस्सा राजा को दे देते हैं, कि यह उस राजा का हिस्सा है, जो हमारी रक्षा करता है।[1] इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राजा को दिया जाने वाला धान्य का भाग उसके रक्षा करने के कार्य का वेतन था, वह उसके भू-स्वामी होने के आधार पर नहीं मिलता था, और राजा वास्तव में भूमि का स्वामी नहीं माना जाता था।

कौटल्य के समय में इस पद्धति में कुछ परिवर्तन होना आरम्भ हो गया था। अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि उस समय कुछ भूमि पर राजा की ओर से 'सीताध्यक्ष' नामक अधिकारी दासों, कार्य करके दंड को भुगतानेवाले अपराधियों, अथवा वेतनभोगी, श्रमजीवियों द्वारा खेती कराता था। इस भूमि पर राज्य का स्वामित्व होता था। इससे होनेवाली आय 'सीता' कहलाती थी। कुछ भूमि गाँववालों को इस विचार से दी जाती थी कि वे राज्य का निर्धारित संख्या में सैनिक अथवा श्रमजीवी दें। शेष भूमि खेती करनेवालों को बिना लगान, या कुछ लगान पर, दी जाती थी। इस भूमि पर उनका अधिकार भिन्न-भिन्न परिमाण में होता था; इस भूमि से राज्य का भा

आय होती थी, उसे 'भाग' कहा गया है। 'सीता' और 'भाग' आय की इन दो मदों से यह स्पष्ट है कि कौटल्य के समय में भी सब या अधिकांश भूमि राज्य की मिलकीयत न थी।*

काश्तकारों के भेद माफी लगानवाले—(१) कौटल्य ने जंगलों को काटकर नये नगर बसाने के प्रसंग में ऋत्विक, आचार्य पुरोहित और श्रोत्रिय को बिना लगान भूमि देने का विधान किया है।† इस प्रकार दी हुई भूमि ब्रह्मदेय कहलाती थी, और ये काश्तकार ब्रह्मदेय काश्तकार कहे जाते थे। आचार्य का कथन है कि इस भूमि को राज्य वापिस न ले। इसे ऋत्विक आदि की संतान निरंतर भोगने की अधिकारी हो। इनसे किसी प्रकार का 'भाग' या राजकर न लिया जाय। ये काश्तकार आवश्यकता होने पर अपनी भूमि अन्य ब्रह्मदेय काश्तकारों के यहाँ ही गिरवी रखकर ऋण ले सकते हैं। ये उसे ऐसे ही काश्तकारों को बेच सकते हैं। ये अन्य स्थानों में रहते हुए भी अपनी सम्पत्ति के अधिकारी हैं। (सम्भव है ये अन्य पुरुषों या किन्हीं काश्तकारों द्वारा खेती करा सकते हों)

(२) कौटल्य ने कर न देनेवाले अन्य काश्तकार ऐसे बतलाये हैं, जिनके भूमि अधिकार परिमित होते थे। यह मिलता है कि अध्यक्ष (भिन्न भिन्न कार्यों का निरीक्षण करनेवाले प्रधान अधिकारी)

---

*'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' के आधार पर।

†श्री० ब्रजमोहन जी वर्मा का मत है कि राजा उसी भूमि को औरों को दान में दे सकता था जो उसकी निज सम्पत्ति हो। (माधुरी, वर्ष १, खंड १, संख्या ४)

संख्यायक (गणना करनेवाले अर्थात् सरकारी दफ़्तरों में क्लर्क आदि का काम करनेवाले), गोप (दस गाँवों के अधिकारी) स्थानिक (नगर का अधिकारी पुरुष) अनीकस्थ (हाथियों को शिक्षा देने वाले), चिकित्सक, अश्वदमक (घोड़ों को सिखानेवाले) और जंघाकारिक (दूर-दूर के स्थानों में आने जाने से अपनी आजीविका प्राप्त करनेवाले, हरकारे आदि) के लिए भी राजा भूमि प्रदान करे, परन्तु इन लोगों का अपनी भूमि बेचने का तथा गिरवी रखने का अधिकार न हो वे उसका केवल भोग कर सकते हैं।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के काश्तकार माफ़ी लगानवाले होते थे।

करद काश्तकार—लगान देनेवाले किसानों के सम्बन्ध में कौटिल्य लिखता है कि जिन्हें खेती के लिए उपयोगी ठीक तैयार की हुई भूमि दी जाय, वह जिसके नाम से दी जाय उसके ही जीवन काल तक उसके पास रह सकती है; तदनंतर राजा को अधिकार है कि वह उस ज़मीन को उस पुरुष के पुत्रादि को देवे अथवा अन्य किसी को। लगान देनेवाले जिन किसानों को बंजर भूमि दी गयी है और उन्होंने अपने परिश्रम से उसे खेती के योग्य बनाया है, राजा को चाहिए कि उन किसानों से उस ज़मीन को कभी न ले। ऐसी ज़मीन पर किसानों का पूर्ण अधिकार रहे।

खेती न की जाने की दशा में राज्य की व्यवस्था—कौटिल्य को इस बात का बड़ा ध्यान था कि कृषि-योग्य भूमि से खेती अवश्य की जाय, वह पड़ती न रहे। आचार्य लिखता है कि यदि कोई किसान ज़मीन में खेती नहीं करता, उसे वैसे ही पड़ी रहने देता है तो राजा

का चाहिए कि उससे वह ज़मीन छीनकर खेती करनेवाले किसी अन्य किसान को दे देवे, अथवा ऐसे किसान के न मिलने पर उस ज़मीन में गाँवों के अधिकारी पुरुष या व्यापारी लोग खेती करें।

ज़मींदारी—अर्थशास्त्र में ऐसा कोई शब्द नहीं आता, जिसका अर्थ ज़मींदार किया जा सके। ब्रह्मारण्य (तपस्वियों के लिए छोड़े हुए जंगल) सोमारण्य (यज्ञ के लिए छोड़े हुए जंगल) देव-स्थान तथा पुण्य-स्थानों की भूमि और चरागाहों की भूमि को छोड़कर शेष ऐसी भूमि को, जिसमें किसी की खेती न होती हो, काश्तकार जोत-बोकर खेती के लिए ले सकते थे।

लगान की मात्रा; लगान जिन्स में देने से सुविधाएँ—कौटल्य ने लगान का परिमाण, साधारणतया उपज का छठा हिस्सा निर्धारित किया है, विशेष दशाओं में यह मात्रा पंचमांश अथवा चतुर्थांश, तथा राज्य के अर्थ-संकट ग्रस्त होने पर तृतीयांश तक करने का भी उसने विधान किया है।

प्राचीन काल में लगान उपज के अनुपात से तो चुकाया ही जाता था इसके अतिरिक्त वह प्रायः जिन्स में ही दिया जाता था नक़दी में नहीं। कौटल्य ने भी इसी का उल्लेख अथवा अनुमोदन किया है। इसमें प्रजा को कई प्रकार की सुविधाएँ होती हैं। उपज के न्यूनाधिक्य से होनेवाले हानि-लाभ में राज्य भी भागीदार होता है, इस प्रकार फ़सल ख़राब होने की दशा में काश्तकार पर लगान का व्यर्थ भार नहीं पड़ता। राज्य फ़सल की रक्षा करने तथा उपज बढ़ाने की ओर यथेष्ट ध्यान देता है, वह सिंचाई आदि का अच्छा प्रबन्ध करता है,

और किसान को समय-समय पर उचित सहायता या परामर्श आदि देने की व्यवस्था करता है। राज्य और किसान दोनों का हित या स्वार्थ समान होने से दोनों का अधिक सहयोग होता है। उनमें वृथा संघर्ष नहीं होता, प्रजा सम्पन्न रहती है, राजकीय भाग चुकाने के लिए, उसे अपने हल बैल आदि बेचने नहीं पड़ते।

—:•:—

बीसवां अध्याय

वेतन

— ० —

श्रमजीवियों को अपने श्रम के बदले जो प्रतिफल मिलता है, उसे मजदूरी या वेतन कहते हैं। यद्यपि सर्वसाधारण की भाषा में छोटे दर्जे के श्रमियों की आय को मजदूरी, और प्रतिष्ठित श्रमियों की आय को वेतन कहा जाता है, किन्तु आर्थिक परिभाषा के विचार से इनमें कोई भेद नहीं माना जाता।

नकद और असल वेतन—कौटल्य के वेतन सम्बन्धी विचारों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पहले यह जान लेना चाहिए कि आजकल वेतन प्रायः नकदी अर्थात् रुपये पैसे में दिया जाता है। इसके विपरीत, बहुत प्राचीनकाल में श्रमियों को उनके श्रम के बदले अन्न-वस्त्र आदि ऐसी चीजें दी जाती थीं जिनकी उन्हें जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यकता होती थी, जिनका वे उपभोग करते थे। इस

प्रकार की चीजें देना अथवा मजदूरी देना कहा जाता है। चाणक्य ने दोनों प्रकार के वेतन की व्यवस्था की है। वह साधारण तौर पर इसे ऐसे श्रमी के लिए जो एक ही आदमी या संस्था का कार्य करे, कुछ नकद वेतन निश्चित करता है, तो साथ ही भोजनादि (भक्त या भत्ता) भी ठहराता है। इस प्रकार श्रमजीवी अपने खाने पीने की जरूरतों से निश्चिन्त रहता है, और नकद वेतन से अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है।*

वेतन की दर—चाणक्य ने भिन्न भिन्न श्रमजीवियों के वेतन की दर विस्तारपूर्वक लिखी है। कुछ मुख्य बातें ये हैं—खेती की रखवाली करनेवाले, ग्वाले, दास, तथा अन्य काम करनेवाले नौकरों के लिए प्रत्येक पुरुष के परिश्रम के अनुसार ही भोजन आदि का प्रबन्ध किया जाय। इसके अतिरिक्त इनको प्रति मास सवा पण नियत वेतन दिया जाय। इसी प्रकार अन्य कारीगरों के लिए भी उनके परिश्रम के अनुसार ही भोजन और वेतन दिया जाय।

मोटे कपड़े की धुलाई एक माषक व दो माषक तक तथा रंगीन कपड़ों की इससे दुगनी होनी चाहिए।

---

*आजकल विशेषतया कल-कारखानों के श्रमजीवी नकद वेतन पाते हैं, उससे चाहे व भोजन-वस्त्रादि की आवश्यकता की पूर्ति करें, चाहे उसे पान बीड़ी, सिग्रेट, शराब या अन्य शौकीनी और विलासिता की चीजों के खरीदने में खर्च कर डालें। आधुनिक काल में बहुधा बड़ा स्थापक तथा वेतन देनेवाले इस बात का भी विचार नहीं करते कि जब श्रमजीवियों को जो नकद वेतन दिया जाता है, उससे उनका भरणपोषण यथेष्ट रूप में हो सकता है या नहीं।

सुनार को एक धरण (सोलह माशे) चाँदी की वस्तु बनाने पर एक माषक वेतन दिया जाय, सोने की चीज की बनवाई के लिए उतने सोना का आठवाँ हिस्सा वेतन दिया जाय। विशेष बढ़िया काम करने पर दूना वेतन दिया जाय।

ताँबा सीसा, काँसा, लोहा, पीतल की चीज की बनवाई धातु के मेल का पाँचवाँ हिस्सा दिया जाय।

कुशल कारीगरों को प्रतिवर्ष ५०० से २००० पण तक दिया जाय।

चित्रकार, पादात (गदका, बनैट, तलवार, आदि खेलने में चतुर), हिसाब करनेवाले तथा लेखक आदि को ५०० पण वार्षिक दिया जाय।

कुशीलव (नट) आदि को २५० पण, और जो उनमें बढ़िया बाजे आदि भी बनाना जानते हों, उन्हें दुगना अर्थात् ५०० पण दिया जाय। अत्यन्त साधारण कारीगरों को १२० पण दिया जाय। पशु तथा मनुष्यों की सेवा चाकरी करने वाले, गौ आदि की रक्षा करनेवाले और बेगारियों को ६० पण वार्षिक तक दिया जाय।

गुप्तचरों का ५०० से १००० पण तक दिया जाय। गाँव के नौकर (धोबी नाई आदि) और मुखिया आदि का ५०० पण दिया जाय।

स्थायी या अस्थायी राजकर्मचारियों को, उनकी विद्या और कार्य की न्यूनाधिकता के अनुसार, न्यून या अधिक वेतन तथा भत्ता दिया जाय। साठ पण के पीछे एक आढ़क (चार सेर) के हिसाब से अन्न दिया जाय।

के श्रमियों का वेतन आजकल की अपेक्षा कम या ज्यादह था। हाँ, यह कहा जा सकता है:—

१—देश में बेकारी न थी। भाफ या बिजली आदि से चलनेवाले आधुनिक ढङ्ग के बड़े बड़े कल-कारखाने न होने से श्रमियों को बहुत स्वतंत्रता प्राप्त थी।

२—श्रमियों की शिक्षा और स्वास्थ्य आदि का, राज्य के भिन्न-भिन्न अध्यक्षों द्वारा एवं विविध संघों की ओर से यथेष्ट प्रबन्ध था।

३—राज्य श्रमजीवियों एवं स्वामियों दोनों के अधिकार और हितों के लिए आवश्यकतानुसार हस्तक्षेप करता था।

४—श्रमियों को आरामतलबी, विलासिता और फजूल-खर्ची से बचाया जाता था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य कौटल्य ने समाज के इस प्रधान वर्ग के हित की बहुत सुन्दर व्यवस्था की थी।

इक्कीसवा अध्याय

सूद

पूँजीवालों को, उनकी पूँजी के, किसी दूसरे व्यक्ति या संस्था द्वारा उपयोग किये जाने की दशा में, मिलनेवाले प्रतिफल को सूद कहते हैं। धन को व्यर्थ अपने पास न पड़े रहने देकर उस दूसरे को सूद पर

उधार देने से जहाँ पूँजीवाले का कौशल और साहस प्रकट होता है वहाँ दूसरे की पूँजी से धनोपार्जन करना सूद पर रुपया लेनेवाले की भी योग्यता या दायित्व सिद्ध करता है। कुछ दशाओं में व्यापार के अतिरिक्त अन्य शारीरिक, सामाजिक या मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी रुपया सूद पर लिया जाता है।

सूद की दर—आचार्य लिखता है कि सौ पण पर एक महीने में सवा पण (अर्थात् पन्द्रह फी सदी सालाना) ब्याज उचित है। व्यापारी लोगों से पांच फी सदी माहवार, जंगल में रहनेवाले तथा वहाँ व्यापार करनेवालों से दस फी सदी माहवार, और समुद्र में जाने-आनेवाले या वहाँ व्यापार करनेवालों से बीस फी सैकड़ा माहवार ब्याज लिया जाना चाहिए। (इससे अधिक सूद लेनेवालों को दण्ड दिया जाय।)

इससे स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों किसी कार्य में जोखम अधिक है, त्यों-त्यों उसके लिए सूद की दर अधिक ठहराता है, और यह ठीक भी है। तथापि सूद की उपर्युक्त दर आजकल की दृष्टि से बहुत अधिक है; इसमें सन्देह नहीं।

दर ऊँची होने के सम्बन्ध में विचार—कौटिल्य तथा अन्य नियम निर्माताओं द्वारा निर्धारित सूद की दर के ऊँचे होने से कुछ विशेषतया विदेशी, लेखक यह अनुमान करते हैं कि भारतवर्ष इस काल में बहुत दरिद्र था और इसलिए यहाँ सूद पर रुपया देने में जोखम थी। परन्तु इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं—

१—प्राचीनकाल में उन लोगों का जीवन और धन रक्षित नहीं समझा जाता था, जिन्हें व्यापार के लिए देश विदेश अथवा जंगलों में घूमना पड़ता था।

२—उस समय अधिकतर कार्य छोटी पूँजी से अथवा कई व्यक्तियों की सम्मिलित बड़ी पूँजी से चल जाता था। जिसके पास साधारण पूँजी भी नहीं होती थी और जो सम्मिलित पूँजी की व्यवस्था नहीं कर सकते थे, उनकी साख कम समझी जाती थी।

३—उस समय किसी को उधार देने की अपेक्षा दान के रूप में उसे अन्न या वस्त्र आदि की सहायता करना अच्छा समझा जाता था।

४—कई सामाजिक प्रथाओं के कारण गृहस्थों को विवाह शादी आदि अवसर पर, अपने सम्बन्धियों और इष्ट मित्रों से सहायता, अथवा कालान्तर में वापिस किये जानेवाले धन, के रूप में यथेष्ट रकम मिल जाती थी।

५—भारतीय नीतिकारों ने ऋण लेने की निन्दा की है ऋण कर्ता पिता को सन्तान का शत्रु कहा है। इससे सर्वसाधारण में ऋण लेने की प्रवृत्ति कम रही है। उनका जीवन सन्तोषी रहा है। 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' को यहाँ सद्गृहस्थों ने मान्य नहीं किया। प्रायः अपनी आय में ही अपना निर्वाह करने की प्रवृत्ति रही।

---

*इनके अवशिष्ट चिन्ह न्योता, भात, दहेज, मूसक आदि इस समय भी प्रचलित हैं।

ऋणग्रस्तों की रक्षा—आचार्य ने ऋणग्रस्तों या कर्जदारों की रक्षा का यथेष्ट ध्यान रखा है। इस सम्बन्ध में उनके मुख्य-मुख्य नियम दिये जाते हैं—

अनेक व्यक्तियों के ऋणी अधमर्ण (उधार लेने वाले) पर कई उत्तमर्ण (साहूकार) अपने अपने ऋण का एक ही साथ अभियोग नहीं चला सकते। [यदि अधमर्ण कहीं विदेश को जा रहा हो तो उस पर मुकदमा चल सकता है।]

कार्य करने के समय में किसान और राजकर्मचारियों को ऋण के लिये गिरफ्तार नहीं किया जा सकता।

पति के लिये हुए ऋण के सम्बन्ध में स्त्री पर उस दशा में दबाव नहीं डाला जा सकता, जबकि वह उसको चुकाना मंजूर नहीं करती। अर्थात् यदि वह स्वयं देना चाहे तब ही उस से पति के ऋण का रुपया लिया जा सकता है, अन्यथा नहीं। [ग्वाले और इसी प्रकार के अन्य पुरुषों के लिए यह नियम नहीं है, जिनकी स्त्रियाँ उनकी जीविका में सहायक होती हैं।]

बहुत काल तक यज्ञ में घिरे हुए, व्याधिग्रस्त, तथा गुरुकुल में अध्ययन करते हुए, एवं बालक या सम्पत्तिहीन पुरुष पर जो ऋण हो, उस पर ब्याज नहीं लगाया जा सकता।

ब्याज दूना न होने पर, पहले ही ब्याज धन के लिए साहूकार अधमर्ण को तंग करे, अथवा ब्याज का मूलधन जोड़कर मूलधन के नाम से ही उतना रुपया माँगे, उसे माँगे हुए धन का चौगुना दंड होना चाहिए।

उधार देनेवालों के सम्बन्ध में विचार—कौटल्य ने इस बात का भी यथेष्ट ध्यान रखा कि यथासम्भव उधार देनेवालों का रुपया विशेषतया जब कि वे बहुत धनी या समर्थ न हों डूबने न पाये। इस लिए जहाँ वह यह लिखता है कि "यदि कोई उत्तमर्ण (उधार देने वाला) दस वर्ष के भीतर अपना ऋण वसूल नहीं कर लेता तो फिर उसके ऊपर उसका कोई अधिकार नहीं रहता", वहाँ यह भी कहता है कि "परन्तु यदि वह धन बालक, वृद्ध, बीमार, आपद्ग्रस्त, विदेश में गये हुए, देश-त्यागी, या राजकीय गड़बड़ में पड़े हुए साहूकारों का हो तो वे दस वर्ष के बाद भी उसे प्राप्त करने के अधिकारी रहते हैं।" इसी प्रकार आचार्य ने यह भी आदेश किया है कि, मृत अधमर्ण (उधार लेनेवाले) के (बालिग) पुत्र उसके ऋण को चुकावें अथवा उसकी स्थायी सम्पत्ति को लेनेवाले दायभागी, या साथ-साथ काम करनेवाले उस के शामिल हिस्सेदार उसको चुकायें।

अर्थशास्त्र में ऋण देनेलेने के सम्बन्ध में बहुत से नियम बतलाये गये हैं। यह स्पष्ट है कि उस समय रुपया उधार लेने की प्रथा प्रचलित थी, और कौटल्य ने इसके विवेचन को महत्वपूर्ण समझा है।

बाईसवां अध्याय

मुनाफा

पहले बताया जा चुका है कि उत्पादन सम्बन्धी प्रबन्ध और साहस को अर्थशास्त्र में व्यवस्था कहते हैं। उसका प्रतिफल मुनाफा होता

मुनाफा या लाभ वह अन्तर है जो किसी वस्तु की कीमत में तथा उसकी लागत (अर्थात् उस वस्तु की उत्पत्ति के लिए काम में आनेवाली भूमि, श्रम और मूलधन के प्रतिफलों के योग) में होता है।

मुनाफे का अनुमान—व्यापार में, विशेषतया विदेश जाकर व्यापार करने में, लाभ का अनुमान करने के लिए आचार्य ने कई बातों की ओर ध्यान दिलाया है। उसने लिखा है कि अपने देश के तथा परदेश के पण्य द्रव्यों के न्यून, अधिक तथा समान मूल्य को, और उन के पैक' करने (पार्सल या गाँठ तैयार करने) के व्यय को अच्छी तरह जान कर शुल्क, वर्तनीदेय (सड़क का महसूल), अतिवाहिकादेय ('बहती' अर्थात् एक सीमा से दूसरी सीमा में माल निकलवाने का दाम), गुल्मदेय (रास्ते के रक्षक का देय अंश), तरदेय (नदी आदि पार कराने वाले नाविक का देय अंश),* भक्त (भोजन का व्यय) तथा भाटक (भाड़ा) आदि सब खर्चों को निकालकर शुद्ध आमदनी देखी जानी चाहिए। उपर्युक्त खर्चों में एक प्रकार से वह रकम भी शामिल है, जिसके उपलक्ष्य में, चोरी आदि से माल नष्ट होने पर पूर्ति हो सकती है और जिस व्यवस्था को आधुनिक भाषा में 'बीमा-खर्च' कहा जा सकता है।

---

* कौटल्य का मत है कि यदि मार्गों में अधिक से अधिक अनुमित लाभ का सौदा करने से काम न चले तो उन मार्गों में विदेशी व्यापार किया जाय। आचार्य को अकस्मात् से व्यापार करना, अधिक व्यय होने की दशा में ही, स्वीकार है।

कौटल्य का उपर्युक्त विवेचन संक्षिप्त होते हुए भी, यह स्पष्ट है कि आचार्य आवश्यक बातों का उल्लेख करना नहीं भूलता।

लाभ की दर—वर्तमान भौतिकवाद के युग में अधिक से अधिक मुनाफा उठाना व्यवसाय कुशलता का लक्षण समझा जाता है, और इसके लिए समाज या राज्य की ओर से बहुत कम नियंत्रण होता है। कौटल्य को यह बात पसन्द नहीं थी। वह व्यापार का उद्देश्य धनोपार्जन करना नहीं, सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना, समझता था। उसके विचार से व्यवसाय द्वारा अपरिमित या अमर्यादित मुनाफा लेना और धनपति हो जाना चोरी और डकैती के बराबर था। इसलिए उसने ऐसे व्यवसायियों को 'चोर' न कहे जानेवाले चोर' कहा है। आचार्य देशीय वस्तुओं की बिक्री से होनेवाला लाभ साधारणतः उनकी लागत का पाँच प्रति सैकड़ा निश्चित करता है। कुछ दशाओं में, विशेषतया विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में वह इसका परिमाण दस प्रति सैकड़ा तक उचित समझता है।

मुनाफे का नियंत्रण—व्यापारी निश्चित मुनाफे से अधिक न लें, इसके लिए कौटल्य कई नियम निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए उसका आदेश है कि शुल्काध्यक्ष शुल्क अर्थात् चुँगी वसूल करने के लिए पदार्थों के परिमाण और गुण का निरीक्षण करे, और प्रत्येक पदार्थ की कीमत निश्चित हो जाय। यह कीमत व्यापारी गुप्त न रखे, वह इसकी घोषणा न करे। इस दशा में वह मनमाना मुनाफा ले ही नहीं सकता।

अनिवार्य होती थी। सर्वसाधारण को संतोष रहता था कि धनवानों के-पास गया हुआ धन आखिर हम सब ही के काम आता है।

यद्यपि उपयुक्त प्रकार की बातें लोगों की स्वेच्छा से ही होती रहती थीं, उस समय के नियम भी जनता को इस विषय में सावधान रहने की प्रेरणा करते थे। कौटल्य ने 'नागरिक' अर्थात् नगराधिकारी के कार्यों के प्रसङ्ग में लिखा है कि "जो पुरुष अत्यधिक व्यय करनेवाला हो, अथवा अहितकर कार्य करनेवाला हो, उसकी सूचना 'गोप' अथवा स्थानिक अधिकारी को दी जाय।" इससे स्पष्ट है कि लोगों के अपने कार्य, ऐश्वर्य या भोग विलास आदि में अधिक धन व्यय करने को कौटल्य निर्यन्त्रण-योग्य मानता है।

प्राचीन संस्कृति और वर्ण-व्यवस्था—प्राचीन संस्कृति भी ऐसी थी कि वह धन के असमान वितरण को कष्टप्रद नहीं होने देती थी। उस समय धन की विशेष प्रतिष्ठा नहीं थी प्रतिष्ठा थी, गुणों की। हर एक आदमी रुपये-पैसों के पीछे नहीं दौड़ता था, धन के लिए जुआ, सट्टा-फाटका या छल-कपट आदि नहीं करता था। इसका एक कारण यहाँ की प्रचलित वर्ण-व्यवस्था थी, जिसका कौटल्य ने भी समर्थन ही किया है। तदनुसार समाज का सबसे ऊँचा अङ्ग निर्लोभी ब्राह्मण (ब्राह्मण) था, जो गरीबी का जीवन बिताते हुए भी राजदरबार तक में आदर सम्मान पाता था। यही नहीं राजकार्य के संचालन में उसकी सलाह ली जाती थी। ब्राह्मणों से नीचे, दूसरा वर्ण क्षत्रियों का था। ये भी आदर-मान के अधिकारी देश-रक्षा में योग देने के कारण, होते थे, धन के कारण नहीं। जो वैश्य वर्ण प्रायः धनवान होता

था उसका प्राचीन समाज में सबसे ऊँचा नहीं, दूसरा भी नहीं, तीसरा दर्जा था। फिर अब वैश्य अपने धन का उपयोग सर्वसाधारण के हित के लिए करते रहते थे, तो किसी को इनके धन से डाह क्यों होती। शूद्र शारीरिक परिश्रम से अपना निर्वाह किया करते थे, परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उस समय श्रमजीवियों की आजकल की तरह भोजन-वस्त्र का अभाव नहीं रहता था, कौटल्य ने मजदूरी की व्यवस्था करके उन्हें इस विषय में निश्चिन्त कर रखा था।

इस प्रकार कौटल्य के समय में, तथा उसके नियमों के अनुसार देश में गृह-शिल्प का काफी प्रचार था, पूँजीवाद का अभाव था, धनवानों की अपने अन्य बन्धुओं के प्रति यथेष्ट सहानुभूति थी, तथा देश में संस्कृति और वर्ण-व्यवस्था थी जिसमें गरीब आदमी भी अपने गुणों के कारण यथेष्ट मान प्रतिष्ठा पाते थे। धन का वितरण बहुत कुछ समान था, और जो थोड़ी-बहुत असमानता थी, वह लोगों में असन्तोष पैदा करनेवाली या उन्हें कष्ट देने वाली नहीं होती थी। सर्वसाधारण का जीवन शान्तिमय था। प्रत्येक की शारीरिक मानसिक शक्तियों के विकास का यथेष्ट अवसर था। देश आजकल की सर्वव्यापी बेकारी दरिद्रता या चिन्ता से मुक्त था। आवश्यकता है हमारे अर्थशास्त्री फिर इस देश को वैसी आर्थिक स्थिति प्राप्त कराने का प्रयत्न करें। इस विषय में कौटल्य के आर्थिक विचारों से उन्हें बहुत सहायता मिल सकती है।